सुदर्शन-सुधा

(शिक्षाप्रद मौलिक कहानियाँ)

लेखक :
सुदर्शन

संशोधित एवम् परिवर्द्धित
संस्करण
अप्रैल १९४७ ई०

मूल्य ३)

मुद्रक :—
श्रीपतराय
सरस्वती प्रेस, बनारस

विषय-सूची

कवि

(१)

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। आकाश पर तारों की सभा सुसज्जित थी। कवि उन्हें देखता था, और सोच-सोचकर कुछ लिखता जाता था। वह कभी लेटता, कभी बैठता, कभी टहलता, और कभी जोश से हाथों की मुट्ठियाँ कसकर रह जाता था। वह कविता लिख रहा था।

इसी प्रकार रात्रि समाप्त हो गई, परन्तु कवि का गीत अभी तक अधूरा था। सूर्योदय की लाली देखकर उस पर निराशा-सी छा गई, मानो वे उसके जीवन के अन्तिम क्षण हों। उस समय उसका मुख कुम्हलाया हुआ फूल था, आँखें उजड़ी हुई सभा। कभी वह अपने गीत को देखता, कभी आकाश को—उसका हृदय प्रातःकाल के प्रकाश में रात्रि के अन्धकार को खोजता था, जिसमें तारे मुस्कराते थे, और मन्द मन्द चाँदनियाँ अपनी क्षीण किरणों के लम्बे लम्बे हाथ बढ़ाकर सोती हुई सृष्टि के अचेत मस्तिष्कों पर सुन्दर स्वप्नों से जादू करती थीं। वह इस जादू का गीत लिख रहा था। परन्तु अब प्रातःकाल हो चुका था। अकस्मात् कवि के मस्तिष्क में एक विचार उत्पन्न हुआ। उसने काग़ज़-पिंसल ली, और नदी की ओर चल पड़ा। वहाँ एकान्त था। उसने अपने हृदय के अन्धकार को बाहर निकाला, और उस काल्पनिक अन्धकार में गीत को पूरा किया। उस समय उसे ऐसी प्रसन्नता

हुई, मानो कोई राज्य मिल गया हो। अपने गीत को वह बार बार पढ़ता था, और झूमता था। गाता था, और प्रसन्न होता था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे किसी बच्चे को सुन्दर रङ्गीन खिलौने मिल गये हों।

अचानक किसी के पैर की चाप सुनाई दी। कवि चौंक पड़ा, जैसे मृग का बच्चा आहट से चौंक उठता है। उसने अपने काग़ज़ के पुर्ज़े को छिपा लिया, और आँख उठाई। सामने लाला अमरनाथ अधीर खड़े थे। कवि को देखकर वे मुस्कराये और बोले, "क्या हो रहा है?"

लाला अमरनाथ विद्या-रसिक पुरुष थे, पूरे अपटुडेट। उनसे और कवि से अतिशय मेल-मिलाप था। कवि निर्धन था, और साथ ही यह कि ब्याह भी कर चुका था। उसके एक लड़का था, दो लड़कियाँ। प्रायः चिन्तित रहता था। परन्तु जीवन की बहुत सी आवश्यकताओं के होने पर भी उसे कोई काम करना इष्ट न था। वह इसमें अपनी मानहानि समझता था। प्रायः कहा करता, लोग कैसे मूर्ख हैं, थर्मामीटर से हल का काम लेना चाहते हैं। लाला अमरनाथ उसकी कविता पर लट्टू थे। कभी उसकी कविता का एक पद भी सुन लेते तो मस्त होकर झूमने लगते। धनाढ्य पुरुष थे, रुपये-पैसे की कुछ परवा न थी। वे उदारता से कवि की सहायता किया करते थे। इसमें उन्हें हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था।

कवि ने उन्हें देखा, तो आँखों में रौनक़ आ गई, श्रद्धाभाव से बोला, "एक गीत लिख रहा था।"

"क्या शीर्षक है?"

"चन्द्रलोक।"

"वाह वा! शीर्षक तो बहुत अच्छा है, देखूँ कैसा लिखा है?"

कवि ने गीत लाला अमरनाथ के हाथ में दे दिया, और रुक-रुक कर कहा, "सारी रात जागता रहा हूँ।"

"हूँ।"

लाला अमरनाथ ने कविता पढ़ी, तो उनके आश्चर्य की थाह न थी। उन्होंने कविता की सैकड़ों पुस्तकें देखी थीं। बीसों कवियों से उनका परिचय था, परन्तु जो कल्पना, जो सौन्दर्य, जो भाव इस कविता में था, वह इससे

पहले देखने में न आया था। वे अपने आपमें मग्न हो गये। काग़ज़ उनके हाथों में काँपने लगा। उन्होंने कवि की ओर श्रद्धा-भरी दृष्टि से देखा, मानो वह कोई देवता है, और आनन्द के जोश में काँपते हुए कहा "कवि !"

(२)

कवि उनके मन की अवस्था को समझ गया। उसे अपनी आत्मा की गहराइयों में सच्चे आनन्द और अभिमान का अनुभव हुआ। उसने धड़कते हुए हृदय से उत्तर दिया, "जी !"

"यह कविता तुम्हारी है ?"

कवि को ऐसा जान पड़ा जैसे किसी ने गाली दे दी हो। लज्जा ने मुँह लाल कर दिया। उसने एक विचित्र कटाक्ष से लाला अमरनाथ की ओर देखा, और बोला, "हाँ, मेरी है।"

"मैंने ऐसी कविता आज तक नहीं देखी।"

कवि का दिमाग़ आसमान पर था। इस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो संसार अपनी अगणित जिह्वाओं से उसकी कविता की प्रशंसा कर रहा है। तथापि उसने धीर भाव को न छोड़ा। मनुष्य जो सोचता है, प्रायः उसे प्रकट करने को ओछापन समझता है। कवि ने सिर झुकाया, और उत्तर दिया—"यह आपका बड़प्पन है।"

लाला अमरनाथ ने जोश से कहा, "बड़प्पन है ? नहीं। मैं तुम्हारी अनुचित प्रशंसा नहीं करता। तुम सचमुच इस योग्य हो। तुम अपने गुणों से अपरिचित हो। परन्तु मेरी दूरदर्शी आँखें साफ़ देख रही हैं कि कीर्त्ति तुम्हारी ओर पूरे वेग से दौड़ती हुई आ रही है। और वह समय अति निकट है, जब सफलता तुम्हारे लिए अपने सौवर्ण द्वार खोल देगी। विस्मित न हो, आश्चर्य न करो। कवि ! तुम वास्तव में कवि हो। तुम्हारी कल्पना गगन-मण्डल की ऊँचाइयों को छूती है, और तुम्हारा ज्ञान प्रकृति की नाईं विस्तृत है। नवीनता तुम्हारी कविता का सौन्दर्य है, और प्रभाव उसका अङ्गविशेष है। मैं सच कहता हूँ, तुम्हारी कविता पर लोग हठात् वाह वा करेंगे, और संसार तुम्हारा आदर करने को विवश होगा।"

प्रशंसा के वचन साहस बढ़ाने में अचूक ओषधि का काम देते हैं। कवि ने अभिमान से सिर ऊँचा किया, और कहा, "मैंने ऐसे गीत और भी तैयार किये हैं।"

"कितने?"

"इससे पहले ग्यारह बना चुका हूँ। यह बारहवाँ है।"

लाला अमरनाथ पर जैसे किसी ने जादू कर दिया। उनको ऐसी प्रसन्नता हुई, जैसे किसी निर्धन को दबा हुआ ख़ज़ाना मिल गया हो। बच्चों की सी अधीरता से बोले, "वे कहाँ हैं?"

कवि ने उत्तर दिया, "घर पर हैं।"

"चलो, मैं अभी देखना चाहता हूँ।"

कवि का शरीर रात भर जागने से चूर चूर हो रहा था। परन्तु कविता के दिखलाने के शौक़ ने थके हुए पैरों को पर लगा दिये। दोनों उड़ते हुए घर पहुँचे। लाला अमरनाथ ने गीत देखे, तो सन्नाटे में आ गये, जैसे कोयलों में हीरे मिल गये हों। वे कवि पर मुग्ध थे, उसकी कविता पर लट्टू। परन्तु उनको यह आशा न थी कि कवि इतनी उच्च कोटि पर पहुँच गया होगा। वह "दर्पण" नामक एक अत्युत्तम सचित्र मासिक-पत्र निकालने के विचार में थे। कवि की कवितायें देखकर यह विचार पक्का हो गया। जोश से बोले, "दर्पण" तुम्हें कीर्ति की पहली पङ्क्ति में स्थान दिलावेगा।

कवि के मस्तिष्क में आशा की किरण का प्रकाश हुआ, जैसे अँधेरी रात में बिजली चमक जाती है। उसने सहर्ष धड़कते हुए हृदय और काँपते हुए हाथों से गीत अमरनाथ के हाथ दे दिये।

(२)

इससे दूसरे दिन कवि सोकर उठा, तो कमर में दर्द था। परन्तु बेपरवाई कवियों का एक विशेष अङ्ग है। उसने इस ओर तनिक भी ध्यान न दिया और "मानवीय प्रकृति" पर विचार करने में लग गया। वह ग्रन्थों को पढ़ने की अपेक्षा इसके गौरव को बहुत मानता था। इसी प्रकार दो-चार दिन बीत गये। दर्द बढ़ता गया। यहाँ तक कि लेटना और बैठना कठिन हो गया। कवि को कुछ

चिन्ता हुई। भागा भागा वैद्य के पास पहुँचा। पता लगा फोड़ा है। वैद्य ने मरहम लगाने को दिया। परन्तु उससे भी कुछ लाभ न हुआ। यहाँ तक कि रात को सोना भी कठिन हो गया। उस समय कवि को विचार आया, किसी डाक्टर को दिखाना चाहिए। लाला अमरनाथ को साथ लेकर वह डाक्टर कुँवर-सेन के पास पहुँचा। डाक्टर साहब लाला अमरनाथ के मित्रों में से थे। उन्होंने बड़े ध्यान से फोड़ा देखा, और चिन्तित से होकर बोले, "आपने बड़ी बेपरवाई की, कारबंकल है।"

लाला अमरनाथ ने चौंककर कहा—"वह क्या होता है?"

"एक सख़्त क़िस्म का फोड़ा।"

"उसका उपाय भी कुछ है या नही?"

डाक्टर साहब कुछ देर चुप रहे, और फिर उत्तर दिया—"केवल एक उपाय है। मरहम से यह अच्छा न होगा।"

कवि ने अधीर होकर पूछा, "क्या?"

"आपरेशन।"

कवि की आँखों के सामने मौत फिर गई, घबराकर बोला, "आपरेशन सख़्त तो नहीं?"

"मैं आपको धोखे में रखना नहीं चाहता। आपरेशन सख़्त है। यदि आप पहले आ जाते, तो यह भयानक रूप धारण न करता।"

लाला अमरनाथ का मुख इन्द्रधनुष की मूर्ति था, घबराकर बोले, "क्या इसके सिवा और कोई उपाय नहीं?"

"कोई नहीं।"

"तो आपरेशन करवा देना चाहिए?"

"अवश्य और जल्दी। साधारण विलम्ब भी हानि पहुँचा सकता है।"

लाला अमरनाथ ने पूछा—"आपरेशन किससे करवाना उचित होगा?"

"मेरे विचार में सरकारी अस्पताल सबसे अच्छा स्थान है।"

लाला अमरनाथ ने कवि की ओर करुणा-दृष्टि से देखकर कहा—"तो करवा लो।"

कवि सुनकर खड़ा हो गया। मानो उसने भय को पैरों तले कुचल डाला।

इस समय उसके मुख पर निर्भयता के चिह्न थे। साहस से बोला, "साधारण बात है। अब आपरेशन कोई अनोखी बात तो नहीं रहा। प्रतिदिन होते रहते हैं।"

और वह दूसरे दिन आपरेशन-रूम में मेज़ पर लेटा हुआ था।

(४)

एकाएक सर्जन साहब घबराये हुए बाहर निकले। अमरनाथ का कलेजा धड़कने लगा। उन्होंने आगे बढ़कर पूछा, "साहब! आपरेशन हो गया?"

सर्जन के मस्तक से पसीने की बूँदें टपक रही थीं, "तुम उसका कौन होता है?"

"मैं उसका मित्र हूँ। उसका क्या हाल है?"

"हार्ट फ़ेल हो गया।"

अमरनाथ पर जैसे बिजली गिर पड़ी। चिल्लाकर बोले, "क्या कहा आपने?"

"मैन! उसका हार्ट फ़ेल हो गया। दिल का धड़कना रुक गया।"

"तो वह मर गया?"

"यस हमको यह होप न था।"

कवि की स्त्री सुशीला अमरनाथ से कुछ दूर खड़ी थी, यह सुनकर पास आ गई, और रोती हुई बोली, "भाई मुझे धोखे में न रखो, जो बात हो साफ़ साफ़ कह दो।"

अमरनाथ को कवि से हार्दिक प्रेम था। वह उसे इस प्रकार चाहते थे, जैसे भाई भाई को चाहता है। और इतना ही नहीं, उन्हें उससे बड़ी बड़ी आशाएँ थीं। प्रायः सोचा करते थे, यह भारतवर्ष का नाम करेगा। इसकी कविता टैगोर और अनातोल फ्रांस के समान है। वे जब उसके "चन्द्रलोक" को देखते तब मतवाले हो जाते थे। इस समय सर्जन के शब्दों ने उनके कलेजे पर अङ्गारे रख दिये। उनको एकाएक विश्वास न आया कि कवि सचमुच मर गया है। उन्होंने रेत की दीवार खड़ी की। उसकी स्त्री के प्रश्न का उत्तर न दिया, और दौड़ते हुए कमरे में घुस गये। कवि मेज़ पर लेटा हुआ था, और सर्जन निराशा के साथ सिर हिला रहा था। रेत की दीवार गिर गई। अमरनाथ

के हृदय पर कटारें चल गईं। सोचने लगे, कैसा सुन्दर तारा था, परन्तु उदय होने से पहले ही अस्त हो गया। इससे क्या क्या आशाएँ थीं, सब धूल में मिल गईं। सुना था, पवित्र और पुण्यात्मा जीव इस पापमय जगत् में अधिक समय तक नहीं ठहरते। एस समय इसका समर्थन हो गया।

अमरनाथ बाहर निकले, तो मुँह पर सफ़ेदी छा रही थी। सुशीला सामने आई, वह निराशा की मूर्ति थी। उसकी आँखें इस प्रकार खुली थीं मानो आत्मा की सारी शक्तियाँ आँखों में एकट्ठी होकर किसी बात की प्रतीक्षा कर रही हों। उसने अमरनाथ को देखा, तो अधीर होकर बोली, "बोलो! क्या हुआ?"

अमरनाथ की आँखों में आँसू आ गये। सुशीला को उत्तर मिल गया। उसने अपने दोनों हाथ सिर पर मारे, और पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर गई।

अमरनाथ और भी घबरा गये। सुशीला को सुध आई, तो उसने आकाश सिर पर उठा लिया। उसका करुण-विलाप अमरनाथ के घावों पर नमक का काम कर गया। उनको साहस न हुआ कि उसकी ओर देख सकें। उसका रुदन हृदय को चीर देनेवाला था, जिसको सुनकर उनकी आत्मा थर्रा उठी। उन्होंने जेब से सौ रुपये के नोट निकाले और उसके हाथ में देकर ऐसे भागे, जैसे कोई बंदूक़ लेकर उनके पीछे आ रहा हो। यह दृश्य उनके कोमल हृदय के लिए असह्य था। घर जाकर सारी रात रोते रहे। उनको इस बात का निश्चय हो गया कि कवि की स्त्री इस मृत्यु का हेतु मुझे समझ रही है। अतएव उसके सामने जाते हुए डरते थे। सहानुभूति का सच्चा भाव झूठे वहम को दूर न कर सका।

कई दिन बीत गये। अमरनाथ के हृदय से कवि की असमय और दुःखमय मृत्यु का शोक मिटता गया। घायल हृदयों के लिए समय बहुत गुणकारी मरहम है। प्रातःकाल था। प्रेस-कर्मचारी "दर्पण" का अन्तिम प्रूफ़ लेकर आया। उसमें कवि की कविता थी, अमरनाथ के घाव हरे हो गये। कवि प्रायः कहा करता था कि कवि की सन्तान उसकी कविता है, अमरनाथ को यह कथन याद आ गया। कवि की कविता देखकर उनको वही दुःख हुआ जो किसी प्यारे मित्र के अनाथ बच्चे को देखकर हो सकता है। उन्होंने ठण्डी साँस भरकर प्रूफ़

देखना आरम्भ किया। कविता से नवीन रस टपकने लगा। सहसा उनके हृदय में एक पापपूर्ण भाव ने सिर उठाया। उन्होंने कुछ समय तक विचार किया, और फिर काँपती हुई लेखनी से कवि का नाम काटकर उनके स्थान में अपना नाम लिख दिया। मनुष्य का हृदय एक अथाह सागर है, जहाँ कमल के फूलों के साथ रक्त की प्यासी जोंकें भी उत्पन्न होती रहती हैं।

(५)

'दर्पण' का पहला अङ्क निकला, तो पढ़े-लिखे संसार में धूम मच गई। लोग देखते थे, और फूले न समाते थे। 'दर्पण' भाव और भाषा दोनों प्रकार से अत्युत्तम था, और विशेषतः "चन्द्रलोक" की काव्य-माला की पहली कविता पर तो कवि-संसार लट्टू हो गया। एक प्रसिद्ध मासिक पत्र ने तो उसकी समालोचना करते हुए लिखा—

"यों तो 'दर्पण' का एक एक पृष्ठ रत्न-भाण्डार से कम नहीं, परन्तु 'चन्द्र-लोक" की पहली कविता देखकर तो हृदय नाचने लगता है। इसकी एक एक पङ्क्ति में 'अधीर' महाशय ने जादू भर दिया है, और रस की नदी बहा दी है। सुना करते थे कि कविता हृदय के गहन भावों का विशद चित्र है। यह कविता देखकर इस कथन का समर्थन हो गया। निस्सन्देह 'अधीर' महाशय की ये कविताएँ हिन्दी-भाषा को फ्रांसीसी और अँगरेज़ी के समान उच्च कोटि पर ले जायँगी। 'अधीर' महाशय साहित्य के आकाश पर सूर्य्य की नाईं एकाएक चमके हैं। और एक ही कविता से कवि-मण्डल में शिरोमणि हो गये हैं।"

एक दूसरे समाचार-पत्र ने लिखा—

"अधीर महाशय की कविता क्या है, एक जादूभरा सौन्दर्य्य है। हिन्दी-भाषा का सौभाग्य समझना चाहिए कि इसमें ऐसे सूक्ष्म भावों के वर्णन करनेवाले उत्पन्न हो गये हैं, जिन पर भावी सन्तति उचित रूप से अभिमान करेगी। हमें दृढ़ विश्वास है कि यदि यह कविता इसी सुन्दरता से पूरी हो गई तो इसे हिन्दी में वही दर्जा प्राप्त हो जायगा जो संस्कृत में 'शकुन्तला' को, अँगरेज़ी में 'पैराडाईज़ लास्ट को', और बङ्ग-भाषा में 'गीताञ्जलि' को प्राप्त है। अधीर का नाम इस कविता से अमर हो जायगा।" और इतना ही नहीं इस कविता

का अनुवाद बँगला, मरहठी, गुजराती, अँगरेज़ी और फ़ांसीसी पत्रों में प्रकाशित हुआ, और प्रशंसा के साथ। अमरनाथ जिस पत्र को देखते उसमें अपना नामोल्लेख पाते। इससे उनकी आत्मा गद्गद हो जाती। परन्तु कभी कभी हृदय में एक धीमी सी आवाज़ सुनाई दे जाती थी, "तू डाकू है"। अमरनाथ इस अन्तःकरण की आवाज़ को सुनते, तो चौंक उठते, परन्तु फिर दृढ़ सङ्कल्प के साथ उसको अन्दर ही अन्दर दबा देते थे।

इसी प्रकार एक वर्ष बीत गया। लाला अमरनाथ का नाम भारतवर्ष से निकलकर योरप तक जा पहुँचा। अँगरेज़ी पत्रों में उनकी कला पर लेख प्रकाशित हुए। मासिक पत्रों ने उनके फ़ोटो दिये। कविता पूरी हुई, तो प्रकाशक उस पर इस प्रकार टूटे, जैसे पतङ्गे दीपक पर टूटते हैं। अँगरेज़ी पबलिशरों ने अनुवाद के लिए बड़ी बड़ी रक़में भेंट कीं। अमरनाथ के पैर भूमि पर न लगते थे। परन्तु कभी कभी जब अपनी करतूत याद आती तब प्राण सूख जाते थे, जिस प्रकार विवाह की रङ्गरेलियों में मृत्यु का विचार आनन्द को किरकिरा कर देता है। परन्तु उन्होंने अपने स्वर्गीय मित्र को सर्वथा भुला दिया हो, यह बात न थी। वे उसकी स्त्री के नाम हर महीने पचास रुपये का मनीआर्डर करा दिया करते थे। वे इसे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

(६)

रात्रि का समय था। कवि के मकान में शोक छाया हुआ था। वह मौत से तो बच गया था, परन्तु पाँच मील की दूरी पर अपने गाँव चला आया था, और मृतक के समान वर्ष भर से खाट पर पड़ा था। इस रोग ने उसके शरीर का रक्त चूस लिया था, मुख का रङ्ग। अब वह केवल हड्डियों का पिंजर रह गया था। दिन-रात चारपाई पर लेटा रहने के कारण उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया था। इस पर अमरनाथ का एक बार भी न आना उसकी क्रोधाग्नि पर तेल का काम कर गया। आठों पहर दुखी रहता था, और अमरनाथ को गालियाँ देता रहता था। सुशीला समझाती, नहीं आते तो क्या हुआ, अब कोई तुम्हारे शत्रु तो नहीं हो गये। पचास रुपया मासिक भेज रहे हैं, नहीं तो दवा के लिए भी तरसते फिरते। क्या जाने किसी आवश्यक कार्य में लगे हों। कवि यह

सुनता तो तलमला उठता, और कहता—"रुपया वापस दिया जा सकता है, परन्तु सहानुभूति के दो शब्द वह ऋण है जिसे चुकाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। यदि उसके वश में होता तो वह रुपये वापस कर देता। उपेक्षा-भाव मनुष्य के लिए एक निकृष्टतर व्यवहार है। वह गालियाँ सह सकता है, मार खा सकता है, परन्तु उपेक्षा नहीं सह सकता। कवि इसी प्रकृति का मनुष्य था।

रात्रि का समय था। कवि के मकान में एक मिट्टी का दीपक जल रहा था, जैसे निराशा की अवस्था में आशा की किरण टिमटिमाती है। कवि चारपाई पर लेटा हुआ था, और सोच रहा था, परमेश्वर जाने "चन्द्र-लोक" का क्या बना! उसे यह भी ज्ञान न था कि 'दर्पण' निकला भी है या नहीं? इस कविता से क्या क्या आशाएँ थीं। रोग ने सब मिट्टी में मिला दीं। इतने में दरवाज़ा खुला। कवि का एक मित्र रत्नलाल अन्दर आया। उसके हाथ में एक सजिल्द पुस्तक थी। कवि ने पूछा, "यह क्या है?"

"दर्पण की फ़ाइल है।"

कवि का कलेजा धड़कने लगा। उसने विस्मित होकर पूछा, "क्या दर्पण की फ़ाइल?"

"हाँ! देखोगे?"

"अवश्य! ज़रा दीपक इधर ले आओ।"

बच्चे भूख से बिलबिला रहे थे। सुशीला उनके लिए रोटी पका रही थी। आटे का पेड़ा बनाते बनाते बोली, "अब क्या पुस्तक पढ़ोगे? हकीम ने मना किया है, कहीं फिर बुख़ार न हो जाय।"

परन्तु कवि ने सुना अनसुना कर दिया, और दर्पण का फ़ाइल देखने लगा। अपनी पहली कविता देखकर उसका चेहरा खिल गया, जैसे फूल की कली। एक एक पद पढ़ता था, और सिर धुनता था। सोचता था, क्या यह मेरे मस्तिष्क की रचना है। कैसा कलाकौशल है, कैसे ऊँचे भाव। एक एक विचार में आकाश के तारे तोड़कर रख दिये गये हैं। उसको अपने भूतकाल पर ईर्ष्या होने लगी। क्या अब भी बुद्धि को यह कला प्राप्त है? हृदय शोक में डूब गया।

एकाएक कविता की समाप्ति पर दृष्टि गई। अमरनाथ अधीर का नाम पढ़

कर कवि के कलेजे में जैसे किसी ने गोली मार दी। उसको उनसे यह आशा न थी। उसको यह गुमान भी न हो सकता था कि अमरनाथ इतने पतित हो सकते हैं। अपने परिश्रम पर यह डाका देखकर कवि का रक्त उबलने लगा, और आँखों से अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगी। वह क्रोध से तकिये का सहारा लेकर बैठ गया, और अपने मित्र से बोला, "काग़ज़ और क़लम-दवात लाओ। मैं एक गीत लिखूँगा।"

इससे पहले वह कई बार गीत लिखने को तैयार हुआ, परन्तु दुर्बलता ने उसके इस संकल्प को पूरा न होने दिया। रत्नलाल ने उत्तर दिया; "रहने दो। तुम्हारा दिमाग़ काम न कर सकेगा।"

कवि ने अपने हाथ की मुट्ठियाँ कस लीं, और भूखे शेर की नाईं गर्जकर कहा, "तुम क़लम-दवात लाओ। मैं लिख सकूँगा।"

रत्नलाल ने मैशीन के समान आज्ञा-पालन किया। कवि बोला, शीर्षक लिखो "लुटी हुई कीर्ति।"

रत्नलाल ने लिखकर कहा, "लिखाइए।"

कवि ने लिखवाना आरम्भ किया। कविता का स्रोत खुल गया। जिस प्रकार वर्षा के दिनों में नदी-नालों में बाढ़ आ जाती है, उसी प्रकार इस समय कविता का प्रवाह वेग से बह रहा था। विचार आपसे आप ग्रथित हो रहे थे। उसे सोचने की आवश्यकता न थी। परन्तु कविता साँचे में ढली हुई थी, मानो जिह्वा पर सरस्वती आकर बैठ गई थी। क्या सुलझे हुए विचार थे, कैसे प्रभावशाली भाव। पद पद से अग्नि के चिङ्गारे निकल रहे थे। जिस प्रकार नव-वधू का सुहाग उजड़ जाने पर उसका हृदयवेधी चीत्कार करुणा-भरे हृदयों में हलचल मचा देता है, उसी प्रकार इस कविता को देखकर मस्तिष्क खौलने लगता था, और हृदय में विचार विश्वास बनकर बैठ जाता था कि कोई अत्याचार-पीड़ित अत्याचारी के विरुद्ध पुकार कर रहा है।

एकाएक दरवाज़ा खुला, और अमरनाथ अन्दर आये। इस समय उनका मुख-मण्डल अस्त होते हुए सूर्य्य के समान लाल था। कवि ने उनको देखा तो चौंक पड़ा, जैसे पाशबद्ध पक्षी व्याध को देखकर चौंक उठता है। कवि ने घृणा से मुँह फेर लिया, परन्तु अमरनाथ ने उसकी परवा न की और रोते हुए कवि

के पैरों से लिपट गये, जैसे दोषी बालक पिता की गोद में मुँह छिपाकर रोता है।

रत्नलाल और सुशीला दोनों आश्चर्य में थे। कवि ने रुखाई से कहा, "यह क्या करते हो?"

अमरनाथ ने उत्तर दिया, "मैंने तुम्हारा अपराध किया है, जब तक क्षमा न करोगे, पैर न छोडूँगा। मुझे आज ही मालूम हुआ है कि तुम जीवित हो, नहीं तो यह पाप न होता।"

कवि ने कुछ देर सोचा और कहा, "तुम्हें लज्जा तो न आई होगी?"

"यह कुछ न पूछो, अब क्षमा कर दो।"

"प्रकृति के कान क्षमा के नाम से अपरिचित हैं। प्रायश्चित्त करो।"

"वह मैं कर दूँगा।"

"परन्तु कैसे?"

अमरनाथ ने जेब से एक काग़ज़ निकाला, और कवि के हाथ में रख दिया। कवि ने उसे पढ़ा, और स्तम्भित रह गया "क्या तुम यह नोट प्रकाशित कर दोगे?"

"इसके सिवा और उपाय ही क्या है?"

"इतना यश छोड़ दोगे?"

"छोड़ दूँगा।"

"तुम्हारी निन्दा होगी। लोग क्या कहेंगे?"

अमरनाथ ने आग्रह से कहा, "चाहे कुछ भी कहें, मैं अपने दोष को स्वीकार करूँगा। इससे मेरा अन्तःकरण शान्त हो जायगा। कवि! संसार मुझसे ईर्ष्या करता है। परन्तु मुझे रात को नींद नहीं आती। मैंने तुम्हारे परिश्रम का लाभ उठाया है, तुम्हारी रचनाओं ने मेरा नाम योरप तक पहुँचा दिया है। परन्तु—तुम यह कीर्त्ति, यह नाम एक दिन में मुझसे वापस ले सकते हो। मैं उस कौवे के समान हूँ जिसने मोर के पङ्ख लगाकर सुन्दर प्रसिद्ध होना चाहा था। तुम्हारी कविताओं का भाण्डार समाप्त हो चुका है, अब मैं शुष्क स्रोत हूँ। संसार मुझसे नये विचार, नये भाव माँगेगा। मैं उसे क्या दे सकता हूँ—नहीं नहीं मैं अपना पाप स्वीकार कर लूँगा, और तुम्हारी कीर्त्ति तुम्हारे अर्पण कर दूँगा। बोलो, मुझे क्षमा कर दोगे?"

कवि का हृदय भर आया। उसके नेत्रों में आँसू लहराने लगे। उन आँसुओं में हृदय की घृणा बह गई। उसने सच्चे हृदय से उत्तर दिया, "यह न करो, मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ।"

अमरनाथ तनकर खड़े हो गये, और बोले, "प्रायश्चित्त किये बिना मुझे शान्ति न आयेगी।"

यह कहकर उन्होंने जेब से नोटों का एक बंडल निकाला, और कवि को देकर कहा, "यह तुम्हारी दौलत है।"

कवि ने गिना, तीन हज़ार के नोट थे, पूछा, "ये कैसे हैं?"

"अँगरेज़ी ऐडीशन की रायल्टी है। इसे स्थायी आय समझो। मैंने पब-लिशर को सूचना दे दी है कि भविष्य में रायल्टी सीधी तुम्हें भेजी जाय।"

कवि की आँखों में आँसू भर आये। वह अमरनाथ के गले से लिपटकर रोने लगा।

(७)

दिन चढ़ा, तो कवि की अवस्था बहुत कुछ बदल चुकी थी। इतने में अमरनाथ का एक नौकर आया। उसके मुख का रङ्ग उड़ा हुआ था। आते ही बोला, "लालाजी चल बसे।"

कवि का कलेजा मुँह को आ गया। उसने ज़ख़्मी पक्षी की भाँति तड़पकर कहा, "क्या कहा तुमने?"

"लालाजी चल बसे। रात को कुछ खा लिया।"

कवि के हृदय में क्या क्या उमङ्गें भरी हुई थीं, सब पर पानी फिर गया। अमरनाथ की भलाइयाँ सामने आ गईं। कैसा देवता मनुष्य था? पाप का प्रायश्चित्त किस शान से कर गया? हाथ आया हुआ धन किस सुगमता से मेरे अर्पण कर दिया। और इतना ही नहीं, मेरी कीर्ति मुझे वापस दे गया। अपने पाप को अपने हाथ से स्वीकार कर गया। कवि का हृदय रोने लगा।

सहसा विचार आया, अब "चन्द्रलोक" का लेखक होने का दावा करना ओछापन है। वह मेरे साथ इतनी भलाई करता था, क्या मैं उसके नाम का अपमान करूँगा। कवि ने उदारता का प्रमाण देने का निश्चय कर लिया, और

ताँगे में बैठकर वर्ष भर के रोग के पश्चात् पहली बार शहर के श्मशान में पहुँचा। वहाँ नगर भर के बड़े बड़े विद्वान् मौजूद थे। कवि ने "अधीर की कविता" पर एक ओजस्विनी वक्तृता की और उसकी प्रशंसा में कोश के सुन्दर और रसीले शब्द समाप्त कर दिये।

दूसरे मास का "दर्पण" कवि की एडीटरी में प्रकाशित हुआ। उसमें स्वर्गवासी अधीर के नाम से एक हृदय-वेधक कविता प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक "लुटी हुई कीर्ति" था, और कवि की ओर से एक छोटा सा नोट निकला।

"अधीर मर गये, परन्तु उनकी कविता अमर है। पाठक यह पढ़कर प्रसन्न होंगे कि अधीर अपने पीछे कविताओं का एक बहुत बड़ा अप्रकाशित भाण्डार छोड़ गये हैं, ये कविताएँ दर्पण में क्रमशः निकलती रहेंगी।"

इसके पश्चात् कवि ने जो कविता लिखी वह अधीर के नाम से प्रकाशित हुई। कैसा उच्च बलिदान है, कैसा निस्स्वार्थ त्याग। संसार में रुपया-पैसा त्यागनेवालों की कमी नहीं। युद्ध-क्षेत्र की अग्नि में कूद पड़नेवालों की कमी नहीं। परन्तु इन सबके सामने एक लालसा होती है—एक कामना कि हम मर जायँ, परन्तु हमारा नाम प्रसिद्ध हो जाय, जो अजर अमर हो। परन्तु इस नाम का त्याग करनेवाले कितने हैं?

कवि ने मित्र के लिए अपने नाम को निछावर किया।

न्याय-मन्त्री

(१)

यह घटना आज से २,५०० वर्ष पहले की है। एक दिन सन्ध्या समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्धगया नामक गाँव में एक परदेशी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गाँव में सबसे अधिक निर्धन थे। घोर दारिद्र ने भूखे बैल की नाईं उनकी हड्डियों का पञ्जर निकाल रखा था। उनकी आजीविका थोड़ी सी भूमि पर चलती थी। परन्तु फिर भी परदेशी को द्वार पर देखकर उनका मुख खिल गया, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"यह मेरा सौभाग्य है, आइए, पधारिए, अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।"

परदेशी और ब्राह्मण दोनों अन्दर गये। भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेशी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—"आपका पुत्र बड़े काम का मनुष्य है, उसकी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ।"

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक-भौं चढ़ाकर उत्तर दिया—"आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।"

परदेशी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—"क्षमा कीजिए, मेरा यह अभिप्राय न था। परन्तु आजकल वे ब्राह्मण कहाँ हैं, अब तो आँखें उनके लिए तरसती हैं।"

शिशुपाल ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों को है।"

"मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।"

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिसको सुनकर परदेशी चकित होगया। उसकी बातें ऐसी युक्ति-युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेशी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे से गाँव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्त्वदर्शी पण्डित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा—"मुझे ख़याल न था कि गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय तो आपको किसी ऊँची पदवी पर नियुक्त कर दें।"

शिशुपाल के शुष्क होंठो पर मुस्कराहट आगई। जिसका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो, जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होंठो पर हँसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी, बरन उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर ऊपर उठाया और कहा—"आज-कल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लग जाता है।"

परदेशी ने पैंतरा बदलकर उत्तर दिया—शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।

"रहने दो, मैं सब जानता हूँ।"

"दोष निकालना सुगम है, परन्तु कुछ करके दिखाना कठिन है।"

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलसकर उत्तर दिया—

"अवसर मिले तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।"

"तो आप अवसर चाहते हैं?"

"हाँ, अवसर चाहता हूँ।"

"फिर तो कोई अन्याय न होगा?"

"सर्वथा न होगा।"

"कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा ?"

"कदापि नहीं बचेगा।"

परदेशी ने सहजभाव से कहा—"यह बहुत कठिन है।"

"ब्राह्मण के लिए कोई कठिन नहीं। मैं न्याय का डङ्का बजाकर दिखा दूँगा।"

परदेशी के मुख पर मुस्कुराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने हँसकर उत्तर दिया—"यदि मैं अशोक होता तो आपकी मनसा पूरी कर देता।"

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा, परन्तु दूसरे क्षण में वह दूर होगया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्र-खण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

(२)

दूसरे दिन महाराज अशोक के दरबार में, शिशुपाल बुलाया गया। इस समाचार से गाँव भर में आग सी लग गई। यह वह समय था जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था और दमन-नीति का प्रारम्भ था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का सन्देश है। उनको पूरा पूरा विश्वास था कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा, और वे फूट-फूट कर रोने लगे। लोगों ने धीरज बँधाना आरम्भ किया। परन्तु शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—"जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी क़ानून का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा। निस्सन्देह राजा ऐसा अन्यायी और अन्धा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुःख देने लगे।" दुःख और कष्ट की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे जिस प्रकार समुद्र की शिला। उन्होंने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलिपुत्र की ओर चले।

साँझ हो गई थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे। और जब राज-महल में पहुँचाये गये उस समय तक उनको किसी बात का भय न था, परन्तु राज-महल

की चमक-दमक का उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुँचकर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते, किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधड़क हांककर कह दिया करता हूँ, कहीं इसका फल न भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं। कभी सोचते, वह परदेशी पता नहीं कौन था? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो। और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल मिल कर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूँ। कभी सोचते, कदाचित् मेरी दरिद्रता की कहानी यहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुर्झा जाता। इतने में प्रतीहार ने कहा—"महाराज आ रहे हैं।"

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्राण होठों तक आगये हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम गई, महाराज अशोक राजकीय ठाठ से कमरे में आये और मुस्कराते हुए बोले—"ब्राह्मण-देवता, मुझे तो आपने पहचान ही लिया होगा।"

शिशुपाल घबराकर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम रोम काँप रहा था, ये वही थे।

(२)

हाँ ये वही थे। शिशुपाल काँप कर रह गये। कौन जानता था कि शीतकाल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेनेवाला परदेशी भारत का सम्राट् हो सकता है शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—'मुझे पता न था कि आपही महाराज हैं, अन्यथा उतनी स्वतन्त्रता से बातचीत न करता।"

महाराज अशोक बोले—"हूँ।"

"परन्तु मैंनें कोई बात बढ़ाकर नहीं कही थी।"

"हूँ।"

"मैं प्रमाण दे सकता हूँ।"

महाराज ने कहा—"मैं नहीं चाहता।"

"तो मुझे क्या आज्ञा होती है।"

"मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।"

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—"क्या यह सच हो जायगा?"

महाराज ने कहा—"आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाय तो मैं न्याय का डंका बजा दूँगा। मैं आपकी इस विषय में परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं?"

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की, और कहा—"हाँ, यदि महाराज की इच्छा है तो मैं तैयार हूँ।"

"कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।"

"बहुत अच्छा।"

"पाटलिपुत्र की पुलिस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा, और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।"

"बहुत अच्छा।"

"यदि कोई घटना होगई अथवा कोई हत्या होगई तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा।"

"बहुत अच्छा।"

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी उतार कर बोले—"यह राज-मुद्रा है, तुम कल प्रातःकाल की पहली किरण के साथ न्याय-मन्त्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल-शासक सिद्ध कर सकते हो।"

(४)

एक मास व्यतीत हो गया। न्याय-मन्त्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गई। शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है, ऐसा प्रतीत

होता था। उन्होंने चोर-डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था, जिस प्रकार सर्प को बीन बजाकर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाज़े तक खुले छोड़ जाते थे, परन्तु किसी की हानि न होती थी। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था, न सिफ़ारिश सुनता था। वह केवल दण्ड देना जानता था और दण्ड भी शिक्षा-प्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक अमीर ने एक विशाल भवन के द्वार पर दस्तक दी। दरीचे से किसी स्त्री ने सिर निकालकर पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, दरवाज़ा खोल दो।"

"परन्तु वे यहाँ नहीं हैं।"

"परवा नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।"

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं नहीं खोलूँगी, तुम इस समय जाओ।"

अमीर ने क्रोध से कहा—"दरवाज़ा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।"

अमीर ने तलवार निकालकर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया, और कहा—"क्या कर रहे हो?"

अमीर ने उसकी ओर इस तरह देखा, जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है, और क्रोध से बोला—"तुम कौन हो?

"मैं पहरेदार हूँ।"

"तुमको किसने नियत किया है?"

"न्याय-मन्त्री ने।"

"मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—"परन्तु इस समय महाराज अशोक भी आ जायँ तो भी न टलूँगा।"

"क्यों मृत्यु को बुला रहे हो?"

"मैंने जो प्रण किया है उसे पूरा करूँगा।"

"किससे प्रण किया है ?"

"न्याय-मन्त्री से।"

"क्या ?"

"यही कि जब तक तन में प्राण हैं और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे न हटूँगा।"

अमीर ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—"आप ग़लती कर रहे हैं, मैं नौकरी पर हूँ।"

परन्तु अमीर ने सुना अनसुना कर दिया, और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली। परन्तु वह अभी नया था, पहले ही वार में गिर गया, और मारा गया। अमीर का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था। परन्तु घाव मर्मस्थान पर लगा। अमीर ने उसकी लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रातःकाल इस घटना की घर घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलीस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में। राजधानी में आतङ्क छा गया। पुलीस के आदमी चारों ओर दौड़ते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो। न्याय-मन्त्री ने भी मामले की खोज में दिन-रात एक कर दी। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई। घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर उठा न रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते, तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया। न्याय-मन्त्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज कहते, "घातक कब तक पकड़ा जायगा"। न्याय-मन्त्री उत्तर देते, "यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।" महाराज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते, "हत्यारा पकड़ा गया ?"। न्याय-मन्त्री कहते, "नहीं।" महाराज का क्रोध भड़क उठता। उसकी

आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगतीं, बादल की नाईं गरज कर बोलते—"मैं यह 'नहीं' सुनते सुनते तङ्ग आ गया हूँ।"

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज अशोक ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—"तुम्हें तीन दिन की अवधि दी जाती है। यदि इस बीच में घातक न पकड़ा गया तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।"

इस समाचार से नगर में हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर अन्दर शिशुपाल लोक-प्रिय हो चुके थे। उनके न्याय की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु शिशुपाल का बाल बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया—अब कुछ ही घण्टे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, परन्तु शिशुपाल की आँखों मे नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली, और एक स्त्री ने झाँककर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—"तुम कौन हो? पहरेदार।"

निराशा के अन्धकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।"

"ज़रा यहीं ठहरो।"

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई, और दीपक लेकर दरवाज़े पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई, और बोली—"आज अन्तिम रात्रि है?"

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और उत्तर दिया—"हाँ, अन्तिम।"

शब्द साधारण थे, परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तिलमिलाकर खड़ी हो गई और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—"कहो।"

"रात्रि का समय था। घातक ने इस मकान का दरवाज़ा खटखटाया। वह यहाँ प्रायः आया करता है।"

"परन्तु क्यों ?

"उसका आचार अच्छा नहीं।"

"फिर आगे।"

"मैंने उत्तर दिया, जिसके पास तुम आये हो वह यहाँ नहीं है। परन्तु उसने इसे झूठ समझा, और दरवाज़ा तोड़ने को उद्यत हुआ। पहरेदार ने उसे रोका, और उसके हाथ से मारा गया।"

न्याय-मन्त्री ने पूछा—"परन्तु घातक कौन है ?"

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की नाईं चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल धरने को स्थान न था। आज न्याय-मन्त्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही कहा—"न्याय-मन्त्री !"

शिशुपाल सामने आये, इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई अशान्ति न थी।

महाराज ने पूछा—"घातक का पता लगा ?"

न्याय-मन्त्री ने साहसपूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, लग गया।"

"पेश करो।"

न्याय-मन्त्री ने सिर झुकाकर सोचा। इस समय उनके हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होंने दृढ़ सङ्कल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर।"

"श्रीमन् !"

"गिरफ्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूँ।"

इशारा महाराज की ओर था, दरबार में निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया मानो वह तपा हुआ ताँबा हो। नेत्रों से अग्नि-कण निकलने

लगे। वे तिलमिलाकर खड़े हो गये और बोले—"अरे ब्राह्मण! तुझे यहाँ तक साहस हो गया?"

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं, और अपने शब्दों को फिर दोहराया—"मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ्तार कर लो।"

धनवीर पुतली की नाईं आगे बढ़ा। दरबारियों की साँस रुक गई। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मन्त्री ने कहा—"यह घातक है। मेरी अदालत में पेश करो।"

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा दी और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—"अपराधी राज-कुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाय।"

महाराज अशोक ने संकेत किया, मन्त्री-गण पीछे हट गये। महाराज उस जँगले में खड़े हो गये, जो अपराधी के लिए नियत किया गया था। छत्रपति नरेश के अपने राज्य में स्वयं उसके नौकर के हाथ यह सम्मान हो सकता है, इसकी किसी को आशंका न थी। परन्तु शिशुपाल दृढ़ सङ्कल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। हाथों को न्याय-रज्जु ने बाँध रक्खा था। वे धीरे से बोले—"तुम पर पहरेदार की हत्या का अपराध है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?"

महाराज अशोक ने होंठ काटकर उत्तर दिया—"वह उद्दण्ड था।"

"तो तुम अपराध स्वीकार करते हो?"

"हाँ, मैंने उसको मारा है। परन्तु मैंने जान-बूझकर नहीं मारा।"

"वह उद्दण्ड नहीं था, मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।"

"वह उद्दण्ड था।"

"तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

अशोक के नेत्र लाल हो गये। मन्त्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया, न्याय-मन्त्री पागल हो गया है। एक आवाज़ आई, तुम अपना सिर बचाओ। अशोक ने हाथ उठाकर मौन रहने का सङ्केत किया। चारों ओर फिर वही निस्तब्धता छा गई। न्याय-मन्त्री ने कड़ककर कहा—"आपका क्रोध करना सर्वथा अनुचित

है। मैं इस समय न्याय मन्त्री के आसन पर हूँ, और न्याय करने बैठा हूँ। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शार किया तो मैं उसको अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ्तार कर लूँगा।"

"अशोक! तुमने एक राज-कर्मचारी का वध किया है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

महाराज ने सिर झुका लिया। इस समय उनके हृदय में ब्रह्मानन्द का समुद्र लहरें मार रहा था। सोचते थे यह मनुष्य स्वर्ण है, जो अग्नि में पड़कर कुन्दन हो गया है। कहता था, मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह वचन झूठा न था। इसने अपने कहने की लाज रख ली है। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिन पर जातियाँ अभिमान करती हैं और जिन पर अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाती हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और औदासीन्य से कहा—"मैं इस आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।"

न्याय-मन्त्री ने एक मनुष्य को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय मन्त्री ने खड़े होकर कहा—"महाशयो! यह सच है कि मैं न्याय-मन्त्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक राजकर्मचारी की हत्या की गई है। उसका दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दण्ड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति से बाहर है। अतएव मैं आज्ञा देता हूँ कि महाराज चेतावनी देकर छोड़ दिये जायँ, और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।"

न्याय मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गये। वह कहते थे, यह मनुष्य नहीं देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है और न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज़ सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँधकर खड़ा हो जाता। परन्तु इसने उन्हें "तुम" कहकर सम्बोधन किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो। उनके शरीर में रोमाञ्च हो गया। सहस्रों नेत्रों ने आनन्द के आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर ज़ोर से कहा—"न्याय-मन्त्री की जय!"

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राजमहल में पहुँचे और अशोक के सम्मुख अँगूठी और मुद्रा रखकर बोले—"महाराज, यह अपनी वस्तुएँ सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा।"

अशोक ने सम्मानभरी दृष्टि से उनकी तरफ़ देखकर कहा—"आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?"

"परन्तु श्रीमन्..."

अशोक ने बात काटकर कहा—"आपका साहस मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे कोई दूसरा इस पद के योग्य दिखाई नहीं देता।"

न्याय-मन्त्री निरुत्तर हो गये।

सच का सौदा

(१)

विद्यार्थी परीक्षा में फ़ेल होकर रोते हैं, पण्डित सर्वदयाल पास होकर रोये। जब तक पढ़ते थे, तब तक कोई चिन्ता न थी; घी खाते थे, दूध पीते थे, अच्छे अच्छे कपड़े पहनते थे, तड़क भड़क से रहते थे। उनके माता-पिता इस योग्य न थे कि कालेज के खर्च सह सकें, परन्तु उनके मामा एक ऊँचे पद पर नियुक्त थे। उन्होंने चार वर्ष का खर्च देना स्वीकार किया, परन्तु यह भी साथ ही कह दिया कि "देखो रुपया लहू बहा कर मिलता है। मैं वृद्ध हूँ, जान मार कर चार पैसे कमाता हूँ। लाहौर जा रहे हो, वहाँ पग पग पर व्याधियाँ हैं, कोई चिमट न जाय। व्यसनों से बचकर डिगरी लेने का यत्न करो। यदि मुझे कोई ऐसा वैसा समाचार मिला, तो खर्च भेजना बन्द कर दूँगा।" सर्वदयाल ने वृद्ध मामा की बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा, और अपने आचार-विचार से न केवल उनको शिकायत का ही अवसर नहीं दिया बल्कि उनकी आँख की पुतली बन गये। परिणाम यह हुआ कि मामा ने सुशील भानजे को आवश्यकता से अधिक रुपये भेजने शुरू कर दिये, और लिख दिया कि "तुम्हारे खान-पान में मुझे कोई आपत्ति नहीं, हाँ इतना ध्यान रखना कि कोई बात मर्यादा के विरुद्ध न होने पाये। मैं अकेला आदमी, रुपया क्या साथ ले जाऊँगा। तुम मेरे सम्बन्धी हो, यदि किसी योग्य बन जाओ, तो इससे अधिक प्रसन्नता की बात

क्या होगी ?" इससे सर्वदयाल का उत्साह बढ़ा। पहले सात पैसे की जुराबें पहनते थे, अब पाँच आने की पहनने लगे। पहले मलमल के रुमाल रखते थे, अब एटोनिया के रखने लगे। दिन को पढ़ने और रात को जागने से सिर में कभी कभी पीड़ा होने लगती थी, कारण यह कि दूध के लिए पैसे न थे। परन्तु अब जब मामा ने खर्च की डोरी ढीली छोड़ दी, तो घी-दूध दोनों की तङ्गी न रही। परन्तु इन सबके होते हुए भी सर्वदयाल उन व्यसनों से बचे रहे, जो शहर के विद्यार्थियों में प्रायः पाये जाते हैं।

इसी प्रकार चार वर्ष बीत गये, और इस बीच में उनके मामा की मृत्यु हो गई। इधर सर्वदयाल बी० ए० की डिगरी लेकर घर को चले। जब तक पढ़ते थे अच्छी नौकरियाँ दिखाई देती थीं, परन्तु पास हुए तो कोई ठिकाना न देख पड़ा। पण्डितजी घबरा गये, जिस प्रकार यात्री दिन-रात चल चला कर स्टेशन पर पहुँचे, परन्तु गाड़ी में स्थान न हो। उस समय उसकी जो अवस्था होती है ठीक वही दशा पण्डितजी की थी। उनके पिता पण्डित शंकरदत्त पुराने ज़माने के आदमी थे। उनका विचार था कि बेटा अँगरेज़ी बोलता है, पतलून पहनता है, नेकटाई लगाता है, तार तक पढ़ लेता है, इसे नौकरी न मिलेगी तो और किसे मिलेगा। परन्तु जब बहुत दिन गुज़र गये और सर्वदयाल के लिए कोई आजीविका न बनी, तो उनका धीरज छूट गया, जैसे जल का वेग बाँध को तोड़ देता है। बेटे से बोले—"अब तू कुछ नौकरी भी करेगा या नहीं ? मिडिल पास लौंडे रुपया ले घर भर देते हैं। एक तू है कि पढ़ते पढ़ते बाल सफ़ेद हो गये, परन्तु कोई नौकरी ही नहीं मिलती।"

सर्वदयाल के कलेजे में मानो किसी ने तीर-सा मार दिया। सिर झुका कर बोले "नौकरियाँ तो बहुत मिलती हैं, परन्तु वेतन थोड़ा देते हैं, इसलिए देख रहा हूँ कि कोई अच्छा अवसर हाथ आ जाय तो करूँ।"

शंकरदत्त ने उत्तर दिया, "यह तो ठीक है, परन्तु जब तक अच्छा न मिले, मामूली ही कर लो। जब फिर अच्छी मिले इसे छोड़ देना। तुम आप पढ़े लिखे हो, सोचो, निकम्मा बैठे रहने से कोई कुछ दे थोड़ा जाता है।"

सर्वदयाल चुप हो गये, उत्तर न दे सके। शंकरदत्त पूजा पाठ करनेवाले आदमी इस बात को क्या समझें, कि ग्रेजुएट साधारण नौकरी नहीं कर सकता।

(२)

दोपहर का समय था, सर्वदयाल ट्रिब्यून के "Wanted" देख रहे थे। एकाएक एक विज्ञापन देखकर उनका हृदय धड़कने लगा। अम्बाले के प्रसिद्ध रईस रायबहादुर हनुमन्त राय सिंह एक मासिक पत्र "रफ़ीक़ हिन्द" के नाम से निकालनेवाले थे। उनको उसके लिए एक सम्पादक की आवश्यकता थी, जो उच्च श्रेणी का शिक्षित और नवयुवक हो, तथा लिखने में अच्छा अभ्यास रखता हो, और जातीय-सेवा का प्रेमी हो। वेतन पाँच सौ रुपया मासिक। पण्डित सर्वदयाल बैठे थे, खड़े हो गये और सोचने लगे, "यदि यह नौकरी मिल जाय तो दारिद्र कट जाय। मैं हर प्रकार से इसके योग्य हूँ।" जब पढ़ते थे, उन दिनों साहित्य-परिषद् (लिटरेरी-क्लब) में उनकी प्रभावशाली वक्तृताओं और लेखों की धूम थी। बोलते समय उनके मुख से फूल बिखरते थे, और श्रोताओं के मस्तिष्क को अपनी सूक्तियों से सुवासित कर देते थे। उनके मित्र उनको गोद में उठा लेते और कहते—"तेरी वाणी में मोहिनी है।" इसके सिवाय उनके लेख बड़े बड़े प्रसिद्ध पत्रों में निकलते रहे। पण्डित सर्वदयाल ने कई बार इस शौक़ को कोसा था, आज पता लगा कि संसार में इस दुर्लभ पदार्थ का भी कोई ग्राहक है। कम्पित कर से प्रार्थना-पत्र लिखा और रजिस्टरी करा दिया। परन्तु पीछे सोचा—"व्यर्थ खर्च किया। मैं साधारण ग्रेजुएट हूँ, मुझे कौन पूछेगा? पाँच सौ रुपया तनख्वाह है, सैकड़ों उम्मीदवार होंगे और एक से एक बढ़कर। कई वकील और बैरिस्टर जाने को तैयार होंगे। मैंने बड़ी मूर्खता की, जो पाँच सौ रुपया देखकर रीझ गया, जिस प्रकार अबोध बालक चन्द्रमा को देखकर हाथ पसार देता है।" परन्तु फिर ख्याल आया "जो इस नौकरी को पायेगा वह भी तो मनुष्य ही होगा। योग्यता सबमें प्रायः एक ही सा होती है। हाँ, जब तक कार्य्य में हाथ न डाला जाय, तब तक मनुष्य झिझकता है। परन्तु काम का उत्तरदायित्व सब कुछ सिखा देता है।" इन्हीं विचारों में कुछ दिन बीत गये। कभी आशा कल्पनाओं की झड़ी बाँध देती थी, कभी निराशा हृदय में अन्धकार भर देती थी। सर्वदयाल चाहते थे कि इस विचार को मस्तिष्क से बाहर निकाल दें, और किसी दूसरी ओर ध्यान दें; किन्तु

वे ऐसा न कर सके। स्वप्न में भी यही विचार सताने लगे। पन्द्रह दिन बीत गये, परन्तु कोई उत्तर न आया।

निराशा ने कहा—अब चैन से बैठो, कोई आशा नहीं। परन्तु आशा बोली, अभी से निराशा का क्या कारण? पाँच सौ रुपये की नौकरी है, सैकड़ों प्रार्थना-पत्र गये होंगे। उनको देखने के लिए कुछ समय चाहिए। सर्वदयाल ने निश्चय किया कि अभी एक अठवाड़ा और देखना चाहिए। उनको न खाने की चिन्ता थी न पीने की। दरवाज़े पर खड़े डाकिये की बाट देखते रहते थे। उसे आने में देर हो जाती तो टहलते टहलते बाज़ार तक चले जाते। परन्तु अपनी इस अवस्था को डाकिये पर प्रकट न करते, और पास पहुँच कर देखते देखते गुज़र जाते। फिर मुड़कर देखने लगते, कि डाकिया बुला तो नहीं रहा। फिर सोचते—कौन जाने उसने देखा भी है या नहीं। इस विचार से ढाढ़स बँध जाती, तुरन्त चक्कर काटकर डाकिये से पहले दरवाज़े पर पहुँच जाते, और बेपरवा-से होकर पूछते—"कहो भाई हमारा भी पत्र है या नहीं?" डाकिया सिर हिलाता और आगे चला जाता। सर्वदयाल हताश होकर बैठ जाते। यह उनका नित का नियम हो गया था।

जब तीसरा अठवाड़ा भी बीत गया, और कोई उत्तर न आया तो सर्वदयाल निराश हो गये, और समझ गये कि यह मेरी भूल थी, ऐसी जगह सिफारिश से मिलती है, ख़ाली डिगरियों को कौन पूछता है? इतने ही में तार के चपरासी ने पुकारा। सर्वदयाल का दिल उछलने लगा। जीवन के भविष्य में आशा की लता लहलहाती दिखाई दी। लपके लपके दरवाज़े पर गये, और तार देखकर उछल पड़े। लिखा था—"स्वीकार है, आ जाओ।"

(२)

सायङ्काल को गाड़ी में बैठे तो हृदय आनन्द से गद्‌गद हो रहा था और मन में सैकड़ों विचार उठ रहे थे। सम्पादकत्व (एडिटरी) उनके लिए जातीय-सेवा का उपयुक्त साधन था। सोचते थे—"यह मेरा सौभाग्य है जो ऐसा सुअवसर मिला। जो कहीं क्लार्क भर्ती हो जाता, तो जीवन काटना दूभर हो जाता।" बैग से कागज़ और पेन्सल निकाल कर पत्र की व्यवस्था ठीक करने

लगे। पहले पृष्ठ पर क्या हो, दूसरे पर क्या हो, सम्पादकीय वक्तव्य कहाँ दिये जायँ, तार और सूचना के लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा, 'टाईटल' का स्वरूप कैसा हो, सम्पादक का नाम कहाँ रहे, इन सब बातों को सोच सोचकर लिखने लगे। एकाएक विचार आया,—कविता के लिए कोई स्थान न रक्खा, और कविता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे पत्र की शोभा बढ़ जाती है। जिस प्रकार भोजन के साथ चटनी एक विशेष स्वाद देती है, उसी प्रकार विद्वत्तापूर्ण लेख और गम्भीर विचारों के साथ कविता एक आवश्यक वस्तु है। उसे लोग रुचि से पढ़ते हैं। उस समय उन्हें अपने कई सुहृद् मित्र याद आ गये जो उस पत्र को बिना पढ़े फेंक देते थे जिसमें कविता व पद्य न हो। सर्वदयाल को निश्चय हो गया कि इसके बिना पत्र को सफलता न होगी। सहसा एक मनोरञ्जक विचार से वे चौंक उठे। रात्रि का समय था, गाड़ी पूरे वेग से चली जा रही थी। सर्वदयाल जिस कमरे में सफर कर रहे थे, उसमें उनके अतिरिक्त केवल एक यात्री और था जो अपनी जगह पड़ा सो रहा था। सर्वदयाल बैठे थे। खड़े हो गये, और पत्र के तैयार किये हुए नोट गद्दे पर रखकर इधर-उधर टहलने लगे। फिर बैठकर कागज़ पर सुन्दर अक्षरों में लिखा :—

पण्डित सर्वदयाल बी० ए० एडीटर "रफ़ीक़ हिन्द" अम्बाला।

परन्तु लिखते समय हाथ काँप रहे थे, मानो कोई अपराध कर रहे हों। यद्यपि कोई देखनेवाला पास न था, तथापि उस कागज़ के टुकड़े को जिससे ओछापन और बालकपन झलकता था, बार बार छिपाने का यत्न करते थे; जिस प्रकार अनजान बालक अपनी छाया से डर जाता हो। परन्तु धीरे धीरे यह भय का भाव दूर हो गया, और वे स्वाद ले लेकर उस पंक्ति को बारम्बार पढ़ने लगे।

पण्डित सर्वदयाल बी० ए० एडीटर रफ़ीक़ हिन्द अम्बाला।

वे सम्पादकत्व के स्वप्न देखा करते थे। अब राम राम करके आशा की हरी भरी भूमि सामने आई, तो उनके कर्ण कुहर में वही शब्द गूँजने लगे जो उस कागज़ के टुकड़े पर लिखे थेः—

पण्डित सर्वदयाल बी० ए० एडीटर रफ़ीक़ हिन्द अम्बाला।

देर तक इसी धुन और आनन्द में मग्न रहने के पश्चात् पता नहीं कितने बजे इन्हें नींद आई, परन्तु आँखें खुलीं तो दिन चढ़ चुका था, और गाड़ी

अम्बाला स्टेशन पर पहुँच चुकी थी। जागकर पहली वस्तु जिसका उन्हें ध्यान आया यह वही कागज़ का टुकड़ा था, पर अब उसका कहीं पता न था। सर्वदयाल का रंग उड़ गया, आँख उठाकर देखा तो सामने का यात्री जा चुका था। सर्वदयाल की छाती में किसी ने मुक्का मारा, मानो उनकी कोई आवश्यक वस्तु खो गई है। ख़याल आया "यह यात्री कहीं ठाकुर हनुमन्तसिंह न हो। यदि वही हुआ और उसने मेरा ओछापन देख लिया तो क्या कहेगा?"

इतने में गाड़ी ठहर गई। सर्वदयाल बैग लिये हुए नीचे उतरे, और स्टेशन से बाहर निकले। इतने में एक नवयुवक ने पास आकर पूछा—"क्या आप रावलपिण्डी से आ रहे हैं।"

"हाँ, मैं वहीं से आ रहा हूँ। तुम किसे पूछते हो?"

"ठाकुर साहब ने बग्घी भेजी है।" सर्वदयाल का हृदय कमल की नाईं खिल गया। आज तक कभी बग्घी में न बैठे थे, उचक कर सवार हो गये और आस पास देखने लगे। बग्घी चली और एक आलीशान कोठी के द्वारे में जाकर रुक गई। सर्वदयाल का हृदय धड़कने लगा। कोचवान ने दरवाज़ा खोला और आदर से एक तरफ़ खड़ा हो गया। सर्वदयाल रूमाल से मुँह पोंछते हुए नीचे उतरे और बोले "ठाकुर साहब किधर होंगे?"

कोचवान ने उत्तर में एक मुंशी को पुकार कर बुलाया और कहा, "बाबू साहब रावलपिण्डी से आते हैं। ठाकुर साहब के पास ले जाओ।"

रफ़ीक़-हिन्द के खर्च का ब्योरा इसी मुंशी ने तैयार किया था, इसलिए तुरन्त समझ गया कि यह पण्डित सर्वदयाल हैं जो रफ़ीक़हिन्द के सम्पादकत्व के लिये चुने गये हैं, आदर से बोला, "आईए साहब!"

पण्डित सर्वदयाल मुंशी के पीछे चले। मुंशी एक कमरे के आगे रुक गया और रेशमी पर्दा उठाकर बोला, "चलिये, ठाकुर साहब बैठे हैं।"

(४)

सर्वदयाल का सिर घूमने लगा। जो अवस्था निर्बल विद्यार्थी की परीक्षा के अवसर पर होती है, इस समय सर्वदयाल की वही अवस्था थी। शंका हुई, कि ठाकुर साहब मेरे विषय में जो सम्मति रखते हैं, वह मेरी बात-चीत से बदल

न जाय। तथापि साहस करके अन्दर चले गये। ठाकुर हनुमन्तरायसिंह तीस बत्तीस वर्ष के सुन्दर नवयुवक थे, मुस्कराते हुए आगे बढ़े और बड़े आदर से सर्वदयाल से हाथ मिलाकर बोले "आप आगये। कहिए राह में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?"

सर्वदयाल ने धड़कते हुए हृदय से उत्तर दिया "जी नहीं।"

"मैं आपके लेख बहुत समय से देख रहा हूँ। ईश्वर की बड़ी कृपा है जो आज दर्शन भी हुए। निस्सन्देह आपकी लेखनी में आश्चर्यमयी शक्ति है।"

सर्वदयाल पानी पानी हो गये। अपनी प्रशंसा सुनकर उनके हर्ष का वारपार न रहा। तो भी सँभलकर बोले—"यह आपकी कृपा है।"

ठाकुर साहब ने गम्भीरता से कहा "यह नम्रता तो आपकी योग्यता के अनुकूल ही है। परन्तु मेरी सम्मति में आप सरीखा लेखक पञ्जाब भर में नहीं। आप मानें या न मानें समाज को आप पर सच्चा गर्व है। "रफ़ीकहिन्द" का सौभाग्य है, कि उसे आप-सा सम्पादक प्राप्त हुआ।"

सर्वदयाल के हृदय में जो आशंका हो रही थी वह दूर हो गई, समझे कि मैदान मार लिया, बात का रुख बदलने को बोले "पत्रिका कब से निकलेगी ?"

ठाकुर साहब ने हँसकर उत्तर दिया "यह प्रश्न मुझे आपसे करना चाहिए था।"

उस दिन १५ फ़रवरी थी। सर्वदयाल कुछ देर सोचकर बोले "पहला अङ्क पहली एप्रिल को निकल जाय ?"

"अच्छी बात है, परन्तु इतने थोड़े समय में लेख मिल जायँगे या नहीं, इस बात का विचार कर लीजिएगा।"

"इसकी चिन्ता न कीजिए, मैं आज ही से काम आरम्भ किये देता हूँ। परमात्मा ने चाहा तो आप पहले ही अङ्क को देखकर प्रसन्न हो जायँगे।"

एकाएक ठाकुर साहब चिहुँककर बोले "कदाचित् यह सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि इस विज्ञापन के उत्तर में लगभग दो हजार दरख्वास्तें आई थीं। उनमें से बहुत सी ऐसी हैं, जो साहित्य और लालित्य के मोतियों से भरी हुई थीं, परन्तु आपका पत्र सचाई से भरपूर है। किसी ने लिखा था—मैं इस समय दुकान करता हूँ और चार-पाँच सौ रुपये मासिक पैदा कर लेता हूँ। परन्तु जातीय-सेवा के लिए यह सब छोड़ने को तैयार हूँ। किसी ने लिखा

था—मेरे पास खाने-पीने की कमी नहीं, परन्तु स्वदेश-प्रेम हृदय में उत्साह उत्पन्न कर रहा है। किसी ने लिखा था—मैं बैरिस्टरी के लिए विलायत जाने की तैयारियाँ कर रहा हूँ परन्तु यदि आप यह काम मुझे दे सकें, तो इस विचार को छोड़ा जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक प्रार्थना-पत्र से यही प्रकट होता है, कि प्रार्थी को वेतन की तो आवश्यकता नहीं, और कदाचित् वह नौकरी करना अपमान भी समझता है परन्तु यह सब कुछ देश-प्रेम के हेतु सहने को उद्यत है। मानो यह नौकरी करके मुझ पर कोई उपकार कर रहा है। केवल आपका पत्र है, जिसमें सत्य से काम लिया गया है, और यह वह गुण है, जिसके सामने मैं सब कुछ तुच्छ समझता हूँ।"

(५)

एप्रिल की पहली तारीख़ को रफ़ीक-हिन्द का प्रथम अङ्क निकला तो पञ्जाब के पढ़े-लिखे लोगों में कोलाहल मच गया, और पण्डित सर्वदयाल के नाम की जहाँ तहाँ चर्चा होने लगी। उनके लेख लोगों ने पहले भी पढ़े थे, परन्तु रफ़ीक-हिन्द के प्रथम अङ्क ने तो उनको देश के प्रथम श्रेणी के सम्पादकों की पंक्ति में ला बिठाया। पत्र क्या था, सुन्दर और सुगन्धित फूलों का गुच्छा था, जिसकी एक एक कुसुम-कलिका चटक-चटककर अपनी मोहिनी वासना से पाठकों के मनों को मुग्ध कर रही थी। एक समाचार-पत्र ने समालोचना करते हुए लिखा:—

"रफ़ीकहिन्द का प्रथम अङ्क प्रकाशित हो गया है, और ऐसी शान से कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। पण्डित सर्वदयाल को इस समय तक हम केवल एक लेखक ही जानते थे, परन्तु अब जान पड़ा कि पत्र-सम्पादक के काम में भी इनकी योग्यता पराकाष्ठा तक पहुँची हुई है। अच्छे लेख लिख लेना और बात है और अच्छे लेख प्राप्त करके उन्हें ऐसे क्रम और विधि से रखना कि किसी की दृष्टि में खटकने न पाये, और बात है। पण्डित सर्वदयाल की प्रभाव-शाली लेखनी में किसी को सन्देह न था, परन्तु रफ़ीकहिन्द ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि आप सम्पादक के काम में भी पूर्णतया योग्य हैं। हमारी सम्मति में रफ़ीकहिन्द से वञ्चित रहना जातीय भाव से अथवा साहित्य व सदाचार के भाव से दुर्भाग्य ही नहीं वरन् महान् अपराध है।"

एक और पत्र की सम्मति थी—"यदि उर्दू-भाषा में कोई ऐसी मासिक-पत्रिका है, जिसे यूरोप और अमेरिका के पत्रों के सामने रखा जा सकता है तो वह रफ़ीकहिन्द है, जो सब प्रकार के गुणों से सुसज्जित है। उसके गुणों को परखने के लिए उसे एक बार देख लेना ही पर्य्याप्त है। निस्सन्देह पण्डित सर्वदयाल ने उर्दू-साहित्य का सिर ऊँचा कर दिया है।"

ठाकुर हनुमन्तरायने यह समालोचनाएँ देखीं तो आनन्द से उछल पड़े। वह मोटर में बैठकर रफ़ीकहिन्द के कार्य्यालय में गये, और पण्डित सर्वदयाल को बधाई देकर बोले "मुझे यह आशा न थी कि हमें इतनी सफलता हो सकेगी।"

पं० सर्वदयाल ने उत्तर दिया—"मेरे विचार में यह कोई बड़ी सफलता नहीं।"

ठाकुर साहब ने कहा "आप कहें, परन्तु स्मरण रखिए वह दिन दूर नहीं जब अख़बारी दुनिया आपको पञ्जाब का शिरोमणि स्वीकार करेगी।"

(६)

इसी प्रकार एक वर्ष बीत गया; रफ़ीकहिन्द की कीर्त्ति देश भर में फैल गई, और पण्डित सर्वदयाल की गिनती बड़े आदमियों में होने लगी। कङ्गाली के दिन बीत चुके थे, अब ऐश्वर्य्य और ख्याति का युग था। उन्हें जीवन एक आनन्दमय यात्रा प्रतीत होती थी, जो फूलों की छाया में तय हो रही हो, और जिसे आम्र पल्लवों में बैठकर गानेवाली श्यामा और कली-कली का रस चूसनेवाला भौंरा भी तृषित नेत्रों से देखता हो, कि इतने में भाग्य ने पाँसा पलट दिया।

अम्बाला की म्यूनिस्पलिटी के मेम्बर चुनने का समय समीप आया, तो ठाकुर हनुमंतसिंह भी एक पक्ष की ओर से मेम्बरी के लिए प्रयत्न करने लगे। धनाढ्य पुरुष थे, रुपया-पैसा पानी की न्याईं बहाने को उद्यत हो गये। उनके मुक़ाबिले में लाला श्यामसराय खड़े हुए, हाई स्कूल के हेडमास्टर, वेतन थोड़ा लेते थे, कपड़े साधारण पहनते थे, कोठी में नहीं वरन् नगर की एक गली में उनका आवास था, परन्तु जाति की सेवा के लिए हर समय उद्यत रहते थे। उनसे पण्डित सर्वदयाल की बड़ी मित्रता थी। उनकी इच्छा न थी कि इस

झंझट में पड़ें, परन्तु सुहृद् मित्रों ने ज़ोर देकर उन्हें खड़ा कर दिया। पण्डित सर्वदयाल ने सहायता का वचन दिया।

ठाकुर हनुमन्तरायसिंह जातीय सेवा के अभिलाषी तो थे, परन्तु उनके वचन और कर्म्म में बड़ा अन्तर था। उनकी जातीय सेवा व्याख्यान झाड़ने, लेख लिखने, और प्रस्ताव पास कर देने तक ही सीमित थी। इससे परे जाना वे अनावश्यक ही न समझते, बल्कि स्वार्थ सिद्ध होता तो, अपने वचन के विरुद्ध भी कार्य्य करने से न झिझकते थे। इस बात से पण्डित सर्वदयाल भली भाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया कि परिणाम चाहे कैसा ही बुरा क्यों न हो, परन्तु ठाकुर साहब को मेम्बर न बनने दूँगा। इस पद के लिए वे लाला इशमतराय को अधिक उपयुक्त समझते थे।

रविवार का दिन था, पण्डित सर्वदयाल की वक्तृता सुनने के लिए सहस्रों लोग एकत्र हो रहे थे। विज्ञापन में व्याख्यान का विषय "म्यूनिसिपल इलेक्शन" था। पण्डित सर्वदयाल क्या कहते हैं, यह जानने के लिए लोग अधीर हो रहे थे। लोगों की आँखें इस ताक में थीं, कि देखें पण्डितजी सत्य को अपनाते हैं या झूठ की ओर झुकते हैं? न्याय का पक्ष लेते हैं या रुपये-पैसे का। इतने में पण्डितजी प्लेटफ़ार्म पर आये। हाथों ने तालियों से स्वागत किया। कान प्लेट-फ़ार्म की ओर लगकर सुनने लगे। पण्डितजी ने कहाः—

"मैं यह नहीं कहता कि आप अमुक मनुष्य को अपना वोट दें, किन्तु इतना अवश्य कहता हूँ, कि जो कुछ करें समझ-सोचकर करें। यह कोई साधारण बात नहीं कि आप बेपर्वाई से काम लें, और चाय की प्यालियों पर बिस्कुट की तश्तरियों पर और ताँगे की सैर पर वोट दे दें। अथवा जाति-बिरादरी व साहुकारे ठाठ-बाट पर लट्टू हो जायें, प्रत्युत इस वोट का अधिकारी वह मनुष्य है, जिसके हृदय में करुणा तथा देश और जाति की सहानुभूति हो। जो जाति के साधारण और छोटे लोगों में घूमता हो, और जाति को ऊँचा उठाने में दिन-रात मग्न रहता हो। जो प्लेग और विशूचिका के दिनों में रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करता हो और अकाल के समय कंगालों को सांत्वना देता हो। जो सच्चे अर्थों में देश का हितैषी हो और लोगों के हार्दिक विचारों को स्पष्टतया प्रकट करने और उनके समर्थन करने में निर्भय और पक्षपात-रहित हो। ऐसा मनुष्य

निर्धन होने पर भी चुनाव का अधिकारी है क्योंकि ये ही भाव उसके भविष्य में उपयोगी सिद्ध होने में प्रमाण हैं।"

ठाकुर हनुमन्तरायसिंह को पूरा पूरा विश्वास था कि पण्डितजी उनके पक्ष में बोलेंगे, परन्तु व्याख्यान सुनकर उनके तन में आग लग गई। कुछ मनुष्य ऐसे भी थे जो पण्डितजी की लोकप्रियता देखकर उनसे जलते थे, उनको मौक़ा मिल गया, ठाकुर साहब के पास जाकर बोले—"यह बात क्या है? जो वह आपका अन्न खाकर आप ही के विरुद्ध बोलने लग गया।"

ठाकुर साहब ने उत्तर दिया "मैंने उसके साथ कोई बुरा व्यवहार नहीं किया, न जाने उसके मन में क्या समाई है।"

एक आदमी ने कहा—"कुछ घमण्डी है।"

ठाकुर साहब ने जोश में आकर कहा—"मैं उसका घमण्ड तोड़ दूँगा।" कुछ देर पीछे पण्डित सर्वदयाल बुलाये गये। वे इसके लिए पहले ही से उद्यत थे। उनके आने पर ठाकुर साहब ने कहा—"क्यों पण्डित साहब! मैंने क्या अपराध किया है?"

पण्डित सर्वदयाल का हृदय धड़कने लगा, परन्तु साहस से बोले "मैंने कब कहा है कि आपने कोई अपराध किया है।"

"तो इस वक्तृता का क्या तात्पर्य था?"

"यह प्रश्न सिद्धान्त का है।"

"तो मेरे विरुद्ध व्याख्यान देंगे आप?"

पण्डित सर्वदयाल ने भूमि की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"मैं आपकी अपेक्षा लाला हशमतराय को मेम्बरी के लिए अधिक उपयुक्त समझता हूँ।"

"यह सौदा आपको बहुत मँहगा पड़ेगा।"

पण्डित सर्वदयाल ने सिर ऊँचा उठाकर उत्तर दिया "मैं इसके लिए सब कुछ देने को तैयार हूँ।"

ठाकुर साहब इस साहस को देखकर दङ्ग रह गये और बोले—"नौकरी और प्रतिष्ठा दोनों?"

"हाँ नौकरी और प्रतिष्ठा दोनों।"

"उस तुच्छ, उद्धत कल के छोकरे हशमतराय के लिए?"

"नहीं, सचाई के लिए।"

ठाकुर साहब को ख़याल न था कि बात बढ़ जायेगी, न उनका यह विचार था कि इस विषय को इतनी दूर ले जायें। परन्तु जब बात बढ़ गई. तो पीछे न हट सके, गर्जकर बोले " यह सचाई यहाँ न निभेगी।"

पण्डित सर्वदयाल को कदाचित् कोमल शब्दों में कहा जाता तो सम्भव है हठ को छोड़ देते। परन्तु इस अनुचित दबाव को सहन न कर सके। धमकी के उत्तर में उन्होंने ऐंठकर कहा—"ऐसी निभेगी कि आप देखेंगे।"

"क्या कर लोगे? क्या तुम समझते हो, कि इन वक्तृताओं से मैं मेम्बर न बन सकूँगा?"

"नहीं। यह बात तो नहीं समझता।"

"तो फिर तुम अड़ते किस बात पर हो?"

"यह मेरा कर्त्तव्य है। उसे पूरा करना मेरा काम है। फल परमेश्वर के हाथ में है।"

ठाकुर साहब ने मुँह मोड़ लिया। पंडित सर्वदयाल ताँगे में जा बैठे और कोचवान से बोले "चलो।"

इसके दूसरे दिन पण्डित सर्वदयाल ने त्यागपत्र भेज दिया।

संसार की गति विचित्र है। जिस सचाई ने उन्हें एक दिन सुख-संपत्ति के दिन दिखाये थे, उसी सचाई के कारण नौकरी से जवाब मिला। नौकरी करते समय पण्डित सर्वदयाल प्रसन्न हुए थे, छोड़ते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुए।

परन्तु लाला हशमतराय ने यह समाचार सुना तो अवाक् रह गये। वह भागे भागे पण्डित सर्वदयाल के पास जाकर बोले—"भाई मैंने मेम्बरी छोड़ी, तुम अपना त्यागपत्र लौटा लो।"

पण्डित सर्वदयाल के मुख-मण्डल पर एक अपूर्व तेज की आभा दमकने लगी, जो इस मायावी संसार में कदाचित् कहीं कहीं ही देख पड़ती है। उन्होंने धैर्य और दृढ़ता से उत्तर दिया "यह असम्भव है।"

"क्या मेरी मेम्बरी का इतना ही ख़याल है?"

"नहीं यह कर्त्तव्य का प्रश्न है।"

लाला हशमतराय निरुत्तर होकर चुप हो गये। सहसा उन्हें विचार हुआ कि 'रफ़ीकहिन्द' पण्डितजी को अत्यन्त प्रिय है मानो वह उनका प्यारा बेटा है। धीरे-धीरे से बोले "रफ़ीकहिन्द को छोड़ दोगे?"

"हाँ छोड़ दूँगा।"

"फिर क्या करोगे?"

"कोई काम कर लूँगा परन्तु सचाई को न छोड़ूँगा।"

"पण्डितजी! तुम भूल रहे हो। अपना सब कुछ गँवा बैठोगे।"

परन्तु सच तो बचा रहेगा, मैं यही चाहता हूँ।"

लाला हशमतराय ने देखा कि अब कुछ और कहना निष्फल है; चुप होकर बैठ गये, इतने में ठाकुर हनुमन्तराय के एक नौकर ने आकर पण्डित सर्वदयाल के हाथ में लिफ़ाफ़ा रख दिया। उन्होंने खोलकर पढ़ा और कहा "मुझे पहले ही आशा थी।"

लाला हशमतराय ने पूछा "क्या है? देखूँ।"

"त्यागपत्र स्वीकृत हो गया।"

(७)

ठाकुर हनुमन्तरायसिंह ने सोचा, यदि अब भी सफलता न हुई तो नाक कट जायगी। भगवान प्रसन्न थे, थैली का मुँह खोल दिया। सुहृद् मित्र और लोलुप ख़ुशामदियों की सम्मति से कारीगर हलवाई बुलवाये गये और चूल्हे गर्म होने लगे। ताँगे दौड़ने लगे और वोटों पर पौण्ड निछावर होने लगे। जब तक ठाकुर साहब का घमंडी सिर किसी पूले के आगे भी न झुका था। परन्तु इलैक्शन क्या आया उनकी प्रकृति ही बदल गई। अब कंगाल से कंगाल आदमी भी मिलता तो मोटर रोक लेते और हाथ जोड़कर नम्रता से कहते—"कोई सेवा हो तो आज्ञा दीजिए, मैं दास हूँ।" कदाचित् ठाकुर साहब का विचार था कि लोग इस प्रकार वश में हो जायँगे। परन्तु यह उनकी भूल थी। हाँ जो लालची थे वे दिन-रात ठाकुर साहब के घर मिठाइयाँ उड़ाते थे और मन में प्रार्थना करते थे कि काश गवर्नमेन्ट नियम बदल दे और इलैक्शन हर तीसरे महीने हुआ करे।

परन्तु लाला हशमतराय की ओर से न कोई ताँगा दौड़ता था, न लड्डू बटते थे। हाँ, दो चार सभाएँ अवश्य हुईं जिनमें पण्डित सर्वदयाल ने धारा-प्रवाह व्याख्यान दिये, और प्रत्येक रूप से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि लाला हशमतराय से बढ़कर मेम्बरी के लिए और कोई आदमी योग्य नहीं।

इलेक्शन का दिन आ पहुँचा। ठाकुर हनुमन्तरायसिंह और लाला हशमतराय दोनों के हृदय धड़कने लगे, जिस प्रकार परीक्षा का परिणाम निकलते समय विद्यार्थी अधीर हो जाते हैं। दोपहर का समय था, पर्चीओं की गिनती हो रही थी। ठाकुर हनुमंतराय के आदमी फूलों की मालाएँ विक्टोरिया बैण्ड, और आतिशबाज़ी के गोले लेकर आये थे। उनको पूरा पूरा विश्वास था कि ठाकुर साहब मेम्बर बन जायँगे। और विश्वास का कारण भी था, क्योंकि ठाकुर साहब का पचीस हज़ार उठ चुका था। परन्तु परिणाम निकला तो उनकी तैयारियाँ धरी-धराई रह गईं। लाला हशमतराय के वोट अधिक थे।

इसके पन्द्रहवें दिन पंडित सर्वदयाल रावलपिण्डी को रवाना हुए। रात्रि का समय था, आकाश तारों से जगमगा रहा था। इसी प्रकार की रात्रि थी जब वे रावलपिण्डी से अम्बाले को आ रहे थे। किन्तु इस रात्रि और उस रात्रि में कितना अन्तर था! तब हर्ष से उनका चेहरा लाल था, आज नेत्रों से उदासी टपक रही थी। भाग्य की बात, आज सूट भी वही पहना हुआ था, जो उस दिन था। उसी प्रकार कमरा ख़ाली था, और एक मुसाफ़िर एक कोने में पड़ा सो रहा था।

पण्डित सर्वदयाल ने शीत से बचने के लिए हाथ जेब में डाला तो काग़ज़ का एक टुकड़ा निकल आया। देखा तो वही काग़ज़ था जिस पर एक वर्ष पहले उन्होंने बड़े चाव से लिखा थाः—

पण्डित सर्वदयाल बी० ए० एडीटर रफ़ीकहिन्द अम्बाला।

उस समय इसे देखकर आनन्द की तरंगें उठी थीं आज शोक छा गया। उन्होंने इसके टुकड़े टुकड़े कर दिये और कंबल ओढ़कर लेट गये, परंतु नींद न आई।

(८)

कैसी शोकजनक और हृदयद्रावी घटना है कि जिसकी योग्यता पर समाचार-पत्रों में लेख निकलते हों, जिसकी वक्तृताओं पर वाग्मिता निछावर होती हो, जिसका सत्य स्वभाव अटल हो, उसको आजीविका चलाने के लिए केवल पाँच सौ रुपये की पूँजी से दुकान करनी पड़े। निस्सन्देह यह सभ्य समाज का दुर्भाग्य है।

पण्डित सर्वदयाल को दफ़्तर की नौकरी से घृणा थी। और अब तो वे एक वर्ष एडीटर की कुर्सी पर बैठ चुके थे—"हम और हमारी सम्मति" का स्वाद चख चुके थे, इसलिए किसी नौकरी को मन न मानता था। कई समाचार-पत्रों में प्रार्थना-पत्र भेजे, परन्तु नौकरी न मिली। विवश होकर उन्होंने दुकान खोली। परन्तु दुकान चलाने के लिए जो चालें चली जाती हैं, जो झूठ बोले जाते हैं, जो अधिक से अधिक मूल्य बतलाकर उसको कम से कम कहा जाता है, इससे पण्डित सर्वदयाल को घृणा थी। उनको मान इस बात का था कि मेरे यहाँ सच का सौदा है, परन्तु संसार में इस सौदे के ग्राहक कितने हैं? उनके पिता उनसे लड़ते थे, झगड़ते थे, गालियाँ देते थे। पण्डित सर्वदयाल यह सब कुछ सहन करते थे और चुपचाप जीवन के दिन गुज़ारते जाते थे। उनकी आय इतनी न थी कि पहले की तरह तड़क-भड़क से रह सकें। इसलिए न कालर नेकटाई लगाते थे, न पतलून पहनते थे। बालों में तेल डाले महीनों बीत जाते थे, परन्तु उन्हें कोई चिन्ता न थी। घर में गाय रखी हुई थी, उसके लिए चारा काटते थे, सानी बनाते थे। कहार रखने की शक्ति न थी, अतः कुएँ से पानी भी आप लाते थे। उनकी स्त्री चर्खा कातती थी, कपड़े सीती थी, और घर के अन्य काम-काज करती थी। और कभी कभी लड़ने भी लगती थी। परन्तु सर्वदयाल चुप रहते थे।

प्रातःकाल का समय था, पण्डित सर्वदयाल अपनी दुकान पर बैठे रफ़ीक-हिन्द का नवीन अंक देख रहे थे। जैसे एक बाग़वान सिरतोड़ परिश्रम से फूलों की क्यारियाँ तैयार करे, और उनको कोई दूसरा माली नष्ट कर दे।

इतने में उनकी दुकान के सामने एक मोटरकार आकर रुकी, और उसमें

से ठाकुर हनुमन्तरायसिंह उतरे। पण्डित सर्वदयाल चौंक पड़े। ख्याल आया—"आँखें कैसे मिलाऊँगा। एक दिन वह था कि इनमें प्रेम का वास था, परन्तु आज उसी स्थान पर लज्जा का निवास है।"

ठाकुर हनुमन्तराय ने पास आकर कहा "अहा! पण्डितजी बैठे हैं। बहुत देर के बाद दर्शन हुए। कहिए क्या हाल है?"

पण्डित सर्वदयाल ने धीरज से उत्तर दिया "अच्छा है। परमात्मा की कृपा है।"

"यह दुकान आपनी है क्या?"

"जी हाँ।"

"कब खोली?"

"आठ मास के लगभग हुए हैं।"

ठाकुर साहब ने उनको चुभती हुई दृष्टि से देखा और कहा "यह काम आपकी योग्यता के अनुकूल नहीं है।"

पण्डित सर्वदयाल ने बेपरवाई से उत्तर दिया "संसार में बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जिनको वह करना पड़ता है जो उनके योग्य नहीं होता। मैं भी उनमें से एक हूँ।"

"आमदनी अच्छी हो जाती है?"

पण्डित सर्वदयाल उत्तर न दे सके। सोचने लगे क्या कहूँ। वास्तव में बात यह थी कि आमदनी बहुत ही थोड़ी थी। परन्तु इस सचाई को ठाकुर साहब के सम्मुख प्रकट करना उचित न समझा। जिसके सामने एक दिन गर्व से सिर ऊँचा किया था और मान प्रतिष्ठा को पाँव से ठुकरा दिया था मानो मिट्टी का तुच्छ ढेला हो, उसके सामने पश्चात्ताप न कर सके और यह कहना उचित न जान पड़ा कि हालत खराब है। सहसा उन्होंने सिर ऊँचा किया और धीर भाव से उत्तर दिया "निर्वाह हो रहा है।"

ठाकुर साहब दूसरे के हृदय को भाँप लेने में बड़े चतुर थे, इन शब्दों से बहुत कुछ समझ गये। सोचने लगे कैसा सूरमा है, जो जीवन के अन्धकारमय क्षणों में भी सुमार्ग से इधर-उधर नहीं हटता। चोट पर चोट पड़ती है, परन्तु हृदय सच के सौदे को नहीं छोड़ता। ऐसे ही पुरुष हैं जो विपत्ति की वेगवती

नदी में सिंह की नाईं सीधे तैरते हैं, और अपनी आन पर धन और प्राण दोनों को निछावर कर देते हैं। ठाकुर साहब ने जोश मे कहा "आप धन्य हैं।"

पण्डित सर्वदयाल अभी तक यही समझे हुए थे कि ठाकुर साहब मुझे जलाने के लिए आये हैं, परन्तु इन शब्दों से उनकी शंका दूर हो गई। अन्धकार-आवृत आकाश में किरण चमक उठी। उन्होंने ठाकुर साहब के मुख की ओर देखा, वहाँ धीरता, प्रेम, और लज्जा तथा पश्चात्ताप का रंग झलकता था। आशा ने निश्चय का स्थान लिया। सकुचाये हुए बोले—"यह आपका अनुग्रह है। मैं तो ऐसा नहीं समझता।"

ठाकुर साहब अब न रह सके। उन्होंने पण्डित सर्वदयाल को गले से लगा लिया और कहा "मैंने तुम पर बहुत अन्याय किया है। उसे क्षमा कर दो। 'रफ़ीक़हिन्द' को सँभालो, आज से मैं तुम्हें छोटा भाई समझता हूँ। परमात्मा करे तुम पहले की तरह, सच्चे, विश्वासी, न्यायप्रिय और दृढ़ मनुष्य बने रहो, मेरी यही कामना है।"

पण्डित सर्वदयाल अवाक् रह गये। वे समझ न सके कि यह स्वप्न है अथवा सचमुच ही भाग्य ने फिर पल्टा खाया है। आश्चर्य से ठाकुर साहब की ओर देखने लगे।

ठाकुर साहब ने अपने कथन को जारी रखते हुए कहा—"मैंने हज़ारों मनुष्य देखें हैं जो कर्त्तव्य और धर्म्म पर दिन-रात लेक्चर देते नहीं थकते, परन्तु जब परीक्षा का समय आता है तो सब कुछ भूल जाते हैं। एक तुम हो जिसने इस जादू पर विजय प्राप्त की है। उस दिन तुमने मेरी बात रद्द कर दी, लेकिन आज यह न होगा। तुम्हारी दुकान पर बैठा हूँ, जब तक हाँ न कहोगे तब तक यहाँ से न हिलूँगा।"

पण्डित सर्वदयाल की आँखों में आँसू झलकने लगे। गर्व ने ग्रीवा झुका दी। तब ठाकुर साहब ने सौ सौ रुपये के दस नोट बटुए में से निकाल कर उनके हाथ में दिये, और कहा—"यह तुम्हारे साहस का पुरस्कार है। तुम्हें स्वीकार करना होगा।"

पण्डित सर्वदयाल अस्वीकार न कर सके।

ठाकुर हनुमन्तराय जब मोटर में बैठे तो पुलकित नेत्रों में आनन्द का नीर झलकता था, मानो कोई निधि हाथ लग गई हो। उनके साथ एक अंग्रेज़ मित्र बैठा था, उसने पूछा "वेल, ठाकुर साहब इस डुकान में क्या ठा जो टुम लम्बा डेर खड़ा मांगटा।"

"वह चीज़ जो और किसी दुकान पर भी नहीं।"

"कौनसा?"

"सच का सौदा।"

परन्तु अँगरेज़ इससे कुछ न समझ सका।

मोटर चलने लगा।

माया

(१)

लाला जगतराम ने अखबार हाथ से रख दिया, और हुक्के की नली मुँह से लगाकर किसी गहरे सोच में डूब गये। इस समय उनकी आँखें पृथ्वी पर लगी हुई थीं, परन्तु विचार-विहंग आकाश में उड़ रहे थे। वे निर्धन आदमी थे। उनका वेतन केवल चालीस रुपये मासिक था, परन्तु उन्होंने अपनी इस अवस्था पर कभी ध्यान नहीं दिया था। उन्हें जो कुछ मिल जाता था, वे उसी पर सन्तुष्ट थे। उनका निर्वाह बड़ी कठिनाई से होता था, परन्तु उनके माथे पर कभी बल न आता था। उन्हें प्रायः अपने हाथ से कपड़े भी धोने पड़ते थे। बाबू लोग इस अपमान (?) को सहन नहीं कर सकते, परन्तु जगतराम इसे साधारण बात समझते थे। वे कहते थे, अपने कपड़े धोने में लज्जा कैसी? यह कोई पाप तो नहीं, मनुष्य मेहनत-मज़दूरी से नाक-भौं क्यों चढ़ाये। उनकी प्रकृति सीधी-सादी थी, हृदय सरल, घर के खर्चों-तले दबे होने पर भी उनके मुख पर मुस्कराहट खिली रहती थी, जिस प्रकार चन्द्रमा काली बदलियों में भी चमकता है। वे दैव-गति के क़ायल थे, प्रायः कहा करते, जो भाग्य में लिखा है वह मिलकर रहेगा, और जो नहीं है वह हाथ में आकर भी चला जायगा। ये विचार उनके व्याकुल हृदय के ढ़ाढ़स थे।

परन्तु आज अख़बार में एक छोटा सा समाचार पढ़कर उनके विश्वास की जड़ हिल गई। नार्वे के एक रसोइये के नाम ग्यारह लाख की लाटरी निकली थी। जगतराम को रास्ता मिल गया। उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह समाचार उनके लिए उपदेश है। इसके साथ ही दूसरे कालम में डेनमार्क की लाटरी का नोटिस था। जगतराम का हृदय नाचने लगा, जिस प्रकार काली घटा को देखकर मोर नाचने लगता है। इस समय उनको ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो भूले हुए बटोही को सैकड़ों पगडंडियों में से सीधा मार्ग मिल गया हो। उनको विश्वास हो गया कि इस लाटरी का मेरे नाम निकल आना निश्चयात्मक है। वर्षों का सन्तोष एक ही क्षण में दूर हो गया। उन्होंने अख़बार को फिर हाथ में लिया और उसमें मग्न हो गये। इतने में उनकी स्त्री विद्यावती ने आकर उनके कन्धे पर हाथ रख दिया और प्यार से पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

जगतराम ने आँखें बन्द कर लीं, मानो उन्होंने कोई ऐसा मनोहर दृश्य देखा था जिसे वे भूलना नहीं चाहते थे, और उत्तर दिया—"कुछ न पूछो।"

विद्यावती ने चकित होकर पूछा—"कोई ऐसी बात है?"

"तुम समझ ही नहीं सकतीं।"

"तो आप ही बता दें।"

जगतराम ने धीरे से अख़बार हाथ में ले लिया और बोले—"मैं लाटरी का टिकट ख़रीदनेवाला हूँ।"

"कितने रुपये ख़र्च होंगे?"

"पच्चीस।"

विद्यावती चौंककर रह गई, जैसे कोई अनहोनी बात सुन ली हो। पच्चीस रुपये का टिकट ख़रीदना उसके लिए ऐसा निरर्थक ख़र्च था, जो पाप नहीं तो पाप के लगभग अवश्य था। स्वामी का मान रखने के लिए उसने उस समय कुछ न कहा। परन्तु हृदय के भाव मुख पर झलके बिना नहीं रहते, दोनों दिलों में बात खटक गई। साथ ही अपनी तङ्गी और निर्धनता का विचार आया। जगतराम का हृदय सहम गया। उन्होंने स्त्री की ओर ऐसी दृष्टि से देखा, मानो उनसे कोई अपराध हो गया हो। हिचकिचाते हुए बोले—

"मुझे यह जूआ खेल लेने दो, मेरे कान में कोई कह रहा है कि लाटरी मेरे नाम अवश्यमेव निकल आयेगी।"

विद्यावती ना न कर सकी। उसके पास पैसा पैसा करके बचाये हुए पचीस रुपये थे। उनसे वह अपने लिए कोई छोटा-मोटा आभूषण बनवाना चाहती थी। परन्तु स्वामी की खातिर उसने यह विचार हृदय से दूर कर दिया और रुपये जगतराम के हाथ में दे दिये। भाग्य भरोसे पाँसा फेंक दिया गया।

(२)

अब जगतराम को दिन-रात लाटरी का ध्यान रहने लगा। रात को सोते सोते चौंक उठते। दिन को आफ़िस में काम करते करते आतुर हो जाते। डाकवाले को देखकर उनका हृदय धड़कने लगता था। तारवाला दिखाई दे जाता तो हाथ-पाँव फूल जाते थे। उनको इस बात का वहम हो गया था कि लाटरी मेरे नाम ही निकलेगी। इसलिए घर में बैठते तो इसी के क़िस्से छेड़ देते और भविष्य का चित्र बनाने लगते। कभी कहते, माल रोड पर कोठी बनवा लेंगे। कभी कहते, सोलन जा बसेंगे। इतना ही नहीं, कोठी की सजावट की चर्चा चल पड़ती तो मुँह फुलाकर विचित्र भाव से कहते, अखबार मेरे सौभाग्य पर नोट लिखेंगे, और सुहृद् मित्र बधाइयाँ देने आयेंगे, कहेंगे यार कैसी तुच्छ नौकरी कर रहे थे, विधाता ने तुम्हें राज दे दिया। मैं शान्ति और धीरता से उत्तर दूँगा, परमेश्वर की दया और आप लोगों का अनुग्रह। इससे उन पर मेरा रोब छा जायगा। विद्यावती कहती, मैं सारे मुहल्ले में लड्डू बाटूँगी और अनाथालय में रुपये भिजवाऊँगी। जगतराम तुरन्त उत्तर देते, अवश्य, अवश्य! रुपये से किसी का उपकार न हुआ तो उसका होना न होना बराबर है।

इसी प्रकार तीन महीने बीत गये। जगतराम विद्यावती प्रतिक्षण व्याकुल रहने लगे, जिस प्रकार विद्यार्थी परीक्षा का परिणाम निकलने से पहले घबरा जाता है। अब उनको मासिक वेतन लेकर प्रसन्नता नहीं होती थी। आशा ने शान्त हृदय के अन्दर चञ्चलता उत्पन्न कर दी थी। तृष्णा सन्तोष की वैरिन है, वह जहाँ पाँव जमाती है, सन्तोष को भगा देती है। परन्तु जब कई दिन बीत गये और कोई सूचना न मिली तब निराश से हो गये। हृदय ने कहा,

यह विचार छोड़ दो, इसमें रखा ही क्या है। परन्तु आशा ने ठंडी साँस भरी, "जिन लोगों को इनाम मिलता है, वे क्या आकाश से उतरते हैं, वे भी तो मनुष्य ही होंगे।" गिरता गिरता हृदय फिर सँभल गया। आशा ने कुछ दिन और बाट देखी, परन्तु फिर भी कोई सूचना न मिली, तब फिर निराश हो गये। यह निराशा कितनी दुःखजनक, कितनी भयानक थी, जिसे आशा की एक किरण ने और भी अन्धकारमयी बना दिया था; जिस प्रकार तिनका जल के प्रवाह में पड़कर लुप्त हो जाता है।

सायङ्काल था। विद्यावती और जगतराम छत पर लेटे हुए अपने अपने विचारों में मग्न थे। इन तीन-चार महीनों में उनका खर्च ज़्यादा हो गया था। लाटरी की आशा ने साहस बढ़ा दिया था, इसलिए उन पर बहुत सा ऋण चढ़ गया था। विद्यावती सोचती थी, क्या होगा? दस रुपये बनिये के देने हैं, पन्द्रह बज़ाज़ के और अभी तलब मिलने में पन्द्रह दिन बाक़ी हैं। एक एक करके चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, परन्तु सब ओर अन्धकार दिखाई दिया। इतने में किसी ने दरवाज़े पर थपकी दी। विद्यावती का कलेजा उछलने लगा। आगे बढ़कर बोली, "कौन है?"

उत्तर मिला, "तार ले जाइए।"

विद्यावती की नस नस में हर्ष की तरङ्ग दौड़ गई। आशा सामने खड़ी थी। जगतराम भागे भागे नीचे गये और तार लेकर पढ़ने लगे। आशा विश्वास में बदल गई, चिल्ला कर बोले—"लाटरी निकल आई।"

(२)

लाटरी निकल आई, कैसे चित्त को लुभोनेवाले शब्द थे। विद्यावती के हृदय-सागर में आनन्द की तरङ्गें उठने लगीं। भिखारिन को राज मिल गया। वह दौड़ती हुई नीचे उतरी और जगतराम के कन्धे पर हाथ रखकर खड़ी हो गई। इस समय उनके हाथ में तार का फ़ार्म केले के पत्ते की भाँई काँप रहा था। उन्होंने स्त्री को देखते ही ज़ोर से कहा—"लो बधाई दो। हमारे नाम दूसरा इनाम निकला है।"

विद्यावती हर्ष से उछल पड़ी, और बोली—"कितने रुपये का?"

"तीन लाख का।"

विद्यावती की आँखों में आँसू आ गये—फूलों पर बारिश हो गई। जगतराम ने आनन्द के झोंकों में मस्त होकर कहा—"मैं न कहता था, हमारे भाग जागनेवाले हैं।" विद्यावती ने सजल नेत्रों से स्वामी की ओर देखा और बोली—"महल्ले में मिठाई बाँटनी है।"

"अब यह भी कोई बड़ी बात है। बाज़ार जा रहा हूँ, हलवाई से कहता आऊँगा, वह पहुँचा देगा।"

"परन्तु रुपया?"

"कैसी मूर्ख हो, अब भी रुपये की कमी है, जिससे चाहूँ हज़ारों ले सकता हूँ।"

यह कहते कहते जगतराम बाहर चले गये। विद्यावती वहीं खड़ी रह गई, जैसे, मिट्टी की मूर्ति हो। इतने में बाहर शोर सा सुनाई दिया। विद्यावती दौड़कर बाहर निकली, देखा कि तार-घर का चपरासी औंधे मुँह नाली में पड़ा है, और जगतराम उसे गालियाँ दे रहे हैं। विद्यावती ने हैरान होकर पूछा—"क्या बात है?"

जगतराम ने उसे एक लात और मारी और विद्यावती से बोले—"सरकारी नौकर है। तार लाने का इनाम माँगता है, जैसे हम पर कोई बड़ा उपकार किया है। बेईमान कहीं का।"

विद्यावती ने गाल पर उँगली रखकर उत्तर दिया—"यह आपने क्या किया। मजूर आदमी है, चार पैसे दे देते तो क्या हम ग़रीब हो जाते। बेचारा इतनी बड़ी ख़बर लाया है।"

यह शब्द किसी और समय जगतराम के क्रोध पर पानी का काम करते, परन्तु इस समय तेल बन गये। नया नया रुपया मिला था, कड़ककर बोले—"मैं इसे पुलिस के हवाले कर दूँगा।"

विद्यावती के हृदय में एक नया विचार उत्पन्न हुआ, क्या रुपया मनुष्य की प्रकृति को भी बदल देता है। कैसे साधु-स्वभाव थे, इनकी भलमंसी की सारे नगर में धूम थी। इन्होंने कभी किसी को तू कहकर नहीं बुलाया था, और इस समय एक ग़रीब चपरासी को गालियाँ दे रहे हैं और मार रहे हैं।

विद्यावती की आँखों में आँसू आ गये। उसने बड़ी कठिनाई से स्वामी को रोका और चपरासी की जान छुड़वाई। उसके लिए यही इनाम था।

दूसरे दिन विद्यावती महल्ले में मिठाई बाँटने निकली। इस समय उसके पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। उसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह आकाश में उड़ रही है, और संसार उसकी ओर ईर्ष्या की दृष्टि से देख रहा है। महल्ले की स्त्रियाँ उसे बधाइयाँ दे रहीं थीं। उन बधाइयों में कितना जोश, कितनी भावुकता थी, जिसमें ठण्डक के स्थान में जलन ज़्यादा मिली हुई थी। विद्यावती के सम्मुख नई सृष्टि खुल गई। माया जादू है, यह सुना करती थी, परन्तु आज प्रत्यक्ष देख लिया। उसने किसी को कुछ दे नहीं दिया, किसी का कोई विशेष हित नहीं कर दिया, परन्तु फिर भी स्त्रियों का बातचीत का ढङ्ग उसके साथ ऐसा आदर-युक्त था, मानो वह उनकी रानी हो। यही स्त्रियाँ थीं जो उसकी परवा तक नहीं करती थीं। उस समय उसको उनकी परवा की आवश्यकता थी। परन्तु आज उसकी राह में आँखें बिछ रही हैं, यद्यपि अब उसको उनकी सहानुभूति की तनिक भी परवा न थी। रुपये ने इस ओर से उसे बेपरवा बना दिया था। वह जिस जिस दरवाजे पर जाती थी, स्त्रियाँ उसके गिर्द घेरा डाल लेती थीं, जैसे वह द्युलोक से उतरी हो। विद्यावती अपने सौभाग्य पर फूली न समाती थी। वह चाहती थी कि हृदय के विचार चेहरे पर प्रकट न हों, परन्तु यह प्रयत्न नितान्त व्यर्थ था, जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख किसी को खड़ा करके यह आशा करना व्यर्थ है कि उसका रूप उसमें दिखाई न दे।

एक सहेली ने कहा—"परमात्मा ने तुम्हें राजगद्दी दी है, अब हमें भूल न जाना।"

विद्यावती के आत्माभिमान को इससे आघात पहुँचा। उसने भर्राये हुए स्वर में उत्तर दिया—"बहन! क्या कभी ऐसा भी हो सकता है?"

दूसरी बोली—"अब कुछ धर्म का काम भी करना।"

विद्यावती ने उत्तर दिया—"कुछ रुपया अनाथालय भिजवा दूँगी।"

धर्मदेवी बोली—"तुमने मन्दिर बनवाने की मिन्नत मानी थी, अब क्या विचार है?"

विद्यावती ने दृढ़ सङ्कल्प के साथ सिर ऊँचा उठाया, और उत्तर दिया—

"हाँ रुपया आते ही इमारत का काम आरम्भ करा दूँगी।"

"भूल न जाना, रुपया बुरी बला है।"

विद्यावती ने तीखी दृष्टि से देखकर कहा—"तो क्या अब मिन्नत मान कर भी पूरी न करूँगी?"

पूरनदेवी बोलीं—"जब माया आती है तब बुद्धि चली जाती है।"

विद्यावती चौंक पड़ी, जैसे किसी ने ऊँची चोटी से गिरा दिया हो। सोचने लगी, क्या यह सचमुच ठीक है। क्या इससे उनका शील स्वभाव बदल जायगा? हृदय ने कहा, योंह नहीं। विद्यावती का मुख लाल हो गया। परन्तु मन ने सहसा तारघर के चपरासी की घटना आँखों के सामने रख दी। विद्यावती का चेहरा फिर से मुरझा गया, परन्तु उसने इस विचार-संग्राम को सहेलियों पर प्रकट न होने दिया और कहा, "ये सब कहने की बातें हैं, मेरा तो विचार है कि बुद्धि माया की मा है, जहाँ जाती है बेटी को साथ ले जाती है।"

इस उत्तर ने सबका मुँह बन्द कर दिया। किसी को बोलने का साहस न हुआ।

(४)

जब साँझ हो गई तब विद्यावती घर को वापस हुई। इस समय उसके दिमाग़ में कई प्रकार के विचार चक्कर खा रहे थे। सोचती थी, क्या से क्या हो गये। कल तक पैसे पैसे को तरसते थे। आज लाखों के मालिक हैं। यह सब परमात्मा की दया है। परन्तु धर्मदेवी की बात इस आनन्द को किरकिरा कर देती थी, जैसे स्वादिष्ट हलुवे में कङ्कर निकल आये। वह चाहती थी कि यह विचार उसके हृदय से निकल जाय, परन्तु निकलता न था। इतने में जगतराम अन्दर आये। विद्यावती उन्हें देखकर सन्नाटे में आगई। उनका वेश इतना बहुमूल्य था, मानो वे डिप्टी कमिश्नर हों। मुँह में टर्किश-सिगार था, सिर पर अँगरेज़ी टोपी, और पाँवों में चमकता हुआ बूट। उनके पीछे पीछे एक नौकर एक बक्स उठाये हुए अन्दर आया। विद्यावती ने जल्दी से मुँह पर घूँघट खींच लिया और एक कोने में दबक गई। जगतराम स्वयं भी पर्दे को अच्छा समझते थे, परन्तु इस समय उनको यह चेष्टा बहुत बुरी लगी। नौकर के बाहर चले जाने पर बोले, "यह पर्दा-वर्दा फ़ज़ूल वहम है। मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।"

विद्यावती के हृदय पर दूसरी चोट लगी। उसने धीरे से कहा—"तो क्या अब मेमों की तरह खुले मुँह फिरा करूँ?"

"क्या हानि है?"

"मुझसे यह न होगा और सब कुछ कर लूँगी। मैं आपसे कहती हूँ कि मुझे क्षमा करें।"

"और मैं तुमसे कहता हूँ कि मेरा कहा मान लो।"

विद्यावती का मुख कपास के फूल की तरह पीला हो गया, घबराकर बोली—"और सब मान लूँगी, एक यह न होगा।"

जगतराम ने मन ही मन में कुछ सोचकर कहा, "अच्छा अभी न सही, पर इस समय यह कपड़े तो पहन लो। बहुत से रुपये ख़र्च कर आया हूँ।"

विद्यावती ने बक्स को खोला तो सन्नाटे में आ गई। उसे यह ख़याल तक न था कि उसे वे अँगरेज़ी कपड़े पहनने पर बाध्य करेंगे. विवश होकर बोली—"मुझे विलायती वेश पहनने की आदत नहीं।"

"परन्तु अब तो पहनने ही होंगे।"

"मैं नहीं पहनूँगी।"

जगतराम खिसिया गये, और कड़ककर बोले, "यह लिबास तुम्हें पहनना पड़ेगा"

विद्यावती को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने कलेजे में छुरी भोंक दी हो। इससे पहले कभी किसी ने उसे कठोर शब्द न कहा था, आज उसका हृदय सहम गया। उसने स्वामी की ओर इस प्रकार देखा, जैसे हिरनी शिकारी को देखती है। परन्तु जगतराम की आँखों में दया न थी, बुझे हुए मन से वही कपड़े पहनने लगी।

(५)

रात्रि का समय था। आकाश के आँगन में तारों के दीपक जगमगाते थे। जगतराम विद्यावती को मोटर पर बिठाकर बाज़ार की सैर को निकले परन्तु उनको सैर की अपेक्षा दिखावा अधिक प्रिय था। वे लोगों को दिखाना चाहते थे कि जगतराम आज राजाओं के समान ऐश्वर्य-शाली है। वे लोगों की ओर इस प्रकार देखते थे, जैसे वे उनकी प्रजा थे। आँखों से अभिमान और ओछा-

पन टपकता था। परन्तु विद्यावती की यह दशा न थी। वह नववधू के समान सिमटी-सिमटाई बैठी थी। लज्जा से देह पसीना पसीना हो रही थी। वह सोचती थी, इनको हो क्या गया है। अब रुपया मिला है तो क्या अपनी मर्यादा भी छोड़ दें। एकाएक धर्मदेवी का कहना याद आ गया, लज्जा ने मुँह लाल कर दिया। मोटर उड़ता हुआ जा रहा था। कोई और समय होता तो विद्यावती इस सवारी पर मान करती, परन्तु इस समय यह उसके लिए दुख का कारण थी।

इतने में मोटर एक बड़े मकान के सामने रुका और जगतराम ऊपर चढ़ गये। विद्यावती ने समझा, कोई दूकान होगी, कुछ खरीदने गये हैं। इतना रुपया हाथ आया है, मन का चाव पूरा कर रहे हैं। परन्तु उसे कितना आश्चर्य हुआ, जब मकान पर से सारङ्गी और तबले की थपक सुनाई दी, और कुछ ही देर बाद जगतराम एक स्त्री को साथ लिये नीचे उतरे। यह स्त्री सुन्दर थी, परन्तु उसकी सुन्दरता में विष मिला हुआ था। विद्यावती ठिठक-सी गई और बोली—"यह कौन है?"

जगतराम ने उसे मोटर में सवार किया और आप बैठते हुए कहा—"तुम इनको नहीं जानतीं?"

मोटर चलने लगा।

"नहीं, मैंने इन्हें आज पहली बार देखा है।"

"यह इस शहर की सबसे बड़ी गानेवाली राहतजान है।"

अपने को राहतजान के साथ बैठी जानकर विद्यावती इस तरह पीछे हटी, मानो वह स्त्री नहीं प्रत्युत सर्पिणी है—"इसका यहाँ क्या काम है?"

राहतजान पर घड़ों पानी पड़ गया। परन्तु जगतराम ने धीरज से उत्तर दिया, "मरी क्यों जाती हो। यह तुम्हें खा तो नहीं जायगी?"

विद्यावती ने अपनी गरदन इस तरह ऊँची उठाई, जैसे किसी ने नागिन को छेड़ दिया हो। आँखों से आग के चिङ्गारे निकल रहे थे। उसने कहा—"मुझे उतार दो, मैं इसके साथ न बैठ सकूँगी।"

यह कहते कहते वह खड़ी हो गई। उसके लिए राहतजान के साथ एक मोटर में बैठना घोर अपमान था। उसने दोबारा चिल्लाकर कहा—"मोटर रोक लो, नहीं तो मैं कूद पड़ूँगी।"

जगतराम बोले—"क्यों अकारथ झगड़ा करती हो। जानती नहीं मैं तीन लाख का आदमी हूँ। और सेठ-साहूकारों के यहाँ सैकड़ों प्रकार के आमोद-प्रमोद होते हैं। इन्हें तुम आज से बहन समझो।"

विद्यावती के तन में काटो तो लहू नहीं। धर्मदेवी का वचन फिर याद आ गया। यही जगतराम थे, जो कल तक पराई स्त्री की ओर आँख उठाकर देखना भी पाप समझते थे, आज एक वेश्या को साथ बिठाये हुए बाज़ार में जा रहे हैं। और इतना ही नहीं, उन्हें इस निर्लज्ज स्त्री को अपनी स्त्री की बहन कहने में भी लज्जा नहीं। विद्यावती की आँखों से आँसू बहने लगे। मनुष्य इतनी जल्दी इतना पतित, इतना नीच हो सकता है, इसको उसे आशा न थी। उसने सोचा, निर्धनता कैसी अच्छी थी, रुपया पास न था, परन्तु सुख आगे-पीछे फिरता था। अब रुपया बहुत है, परन्तु हृदय में शान्ति नहीं। वह धन को फूलों की शय्या समझती थी, परन्तु यह विचार न था कि इसमें ऐसे नोकीले काँटे भी होंगे।

एकाएक वह ज़ोर से चिल्ला उठी—"मोटर रोक लो, कोई कुचला जायगा।"

बाज़ार में भीड़ थी, परन्तु जगतराम ने परवा न की, और मोटर को और भी तेज़ कर दिया। दो लड़के नीचे आ गये। मोटर रुक गया। लोग उसके गिर्द इकट्ठे हो गये। जगतराम की अब आँख खुल गई थी, परन्तु समय बीत चुका था। इतने में एक सिपाही ने आगे बढ़कर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी, और थाने को ले चला। विद्यावती का रङ्ग उड़ गया। कई घण्टे से एक स्वप्न सा देख रही थी, यह गिरफ़्तारी उसका स्वप्न फल था, परन्तु कैसा करुणाजनक, कैसा हृदयवेधक! विद्यावती सोचने लगी, क्या धन में यही गुण हैं। वह वेश्या कहाँ चली गई, इसका कोई पता न लगा।

थोड़ी देर में वह थाने पहुँच गई। वहाँ पर भी बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे। मोटर आता देख पुलिस का एक कर्मचारी बाहर निकल आया। विद्यावती ने सिपाही से पूछा—"अभी यहाँ कोई बाबू गिरिफ़्तार होकर आया है क्या?"

सिपाही ने उसे सिर से पाँवों तक देखा, और बोला—"जिसके मोटर के नीचे दो लड़के कुचले गये हैं?"

"हाँ वही।"

"परन्तु उसने तो यहाँ आकर एक और हत्या कर डाली है।"

विद्यावती के रोंगटे खड़े हो गये, घबराकर बोली—"वह किस तरह?"

"जिसने उसे गिरफ़्तार किया था उसे पिस्तौल मार दिया।"

"परन्तु उसके हाथों में तो हथकड़ी थी।"

"रास्ते में उसने धनाढ्य समझकर हथकड़ी निकाल दी थी।"

विद्यावती ने ठण्डी साँस ली और कम्पित स्वर में कहा—"तो अब क्या होगा?"

सिपाही कुछ देर चुप रहा और फिर बोला—"अब तो फाँसी से कम सज़ा न होगी।"

(६)

विद्यावती के कानों में जैसे किसी ने गर्म सीसा डाल दिया। सिपाही का एक एक शब्द उसके हृदय पर हथौड़े की चोट था। वह चिन्ता में डूब गई। अभी अभी कैसी प्रसन्न थी, महल्ले की स्त्रियाँ बधाइयाँ दे रही थीं, परन्तु दो ही घण्टे में क्या से क्या हो गया। वह पहली बार लाटरी का नाम सुनकर हर्ष से उछल पड़ी थी। परन्तु उसे पता न था कि यह हर्ष डूबते हुए सूर्य की लाली की नाईं है, जिसके पीछे अँधेरी रात छिपी होती है। इस अँधेरे में उसका अस्तित्व नष्ट हो गया। सोचने लगी—"क्या सब कुछ देकर वह वापस लिया जा सकता है?"

एकाएक उसे एक रास्ता सूझ गया। उसने सिपाही का हाथ पकड़ा और उसे एक कोने में ले गई। पति के विचार ने स्वाभाविक लज्जा को दबा लिया था। वहाँ जाकर उसने आँसुओं से भीगी हुई अपनी उदास आँखें ऊपर उठाईं और कहा—"क्या अब किसी प्रकार भी नहीं बच सकते?"

"नहीं।"

"यदि रुपया पानी की तरह बहा दूँ तो भी नहीं?"

"तो भी नहीं।"

विद्यावती ने अन्धकारमय आकाश की ओर देखते हुए कहा—"हमारे नाम लाटरी में आज तीस लाख रुपया निकला है। वह मैं सबका सब लुटा दूँगी। क्या फिर भी नहीं?"

सिपाही दो क़दम पीछे हट गया और आश्चर्य से बोला—"क्या कहा, तीन लाख रुपया ?"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। विद्यावती ने उत्तर दिया—"हाँ, तीन लाख रुपया।"

सिपाही ने विद्यावती की ओर इस प्रकार देखा, जैसे बालक चन्द्रमा को देखता है। कदाचित् वह सोच रहा था कि यदि मेरे वश में होता तो मैं यह सौदा तुरन्त स्वीकार कर लेता। पर बात अधिकारियों तक पहुँच चुकी थी, अब यह कैसे हो सकता था। उसने धीरे से कहा—"कोई अँगरेज़ बैरिस्टर खड़ा करो तो छूट सकेंगे।"

"मैं एक नहीं दर्जनों बैरिस्टर खड़े कर दूँगी।"

"तो उनका छूट जाना कठिन नहीं।"

विद्यावती को कुछ आशा बँध गई, उसने कुछ देर सोचकर कहा—"मैं उनसे मिलना चाहती हूँ।"

कुछ देर बाद वह उस कमरे के सामने खड़ी थी जिसमें जगतराम बन्द थे। उनके हाथों में हथकड़ियाँ थीं, पाँवों में बेड़ियाँ। मुँह पर निराशा और शोक बरस रहा था। आँखों में आँसू भरे हुए थे। उनको निश्चय हो चला था कि अब मेरा बचना असम्भव है। विद्यावती के कलेजे में जैसे किसी ने छुरी भोंक दी। उसने जँगले के समीप आकर कहा—"प्राणनाथ!"

यही स्वर था, जिसको सुनकर जगतराम गद्गद हो जाया करते थे, परन्तु इस समय उसमें वह मोहनी, वह माधुरी न थी। उन्होंने उसकी ओर कातर दृष्टि से देखा और सिर नीचे झुका लिया। उनकी आँखों में पश्चात्ताप और अपराध की स्वीकृति छिपी हुई थी। विद्यावती के धैर्य पर वज्रपात हुआ। उसने अपना सिर ज़ोर से लोहे की दीवार से दे मारा, और इसके साथ ही......

(७)

विद्यावती की आँख खुल गई—यह सब स्वप्न था, और जगतराम उसके ऊपर झुके हुए कह रहे थे—"देखो बनिया रुपयों के लिए बार बार तगादे कर रहा है। अब क्या करना चाहिए।"

विद्यावती की देह पसीना पसीना हो रही थी और कलेजा धक धक कर रहा था। उसको एकाएक अपनी आँखों पर विश्वास न आया कि यह सब स्वप्न था। परन्तु जब सुधि ठिकाने आई तब वह ऐसी प्रसन्न थी, जैसे किसी फाँसी के अपराधी को छोड़ देने की आज्ञा हो गई हो।

जगतराम ने सिर झुकाकर कहा—"परमात्मा! हमारे नाम लाटरी का इनाम निकल आये।"

विद्यावती को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसको कोई शाप दे रहा है। वह घुटनों के बल झुक गई और दोनों हाथ आकाश की तरफ़ उठाकर बोली— "परमात्मा करे यह कभी न हो।"

जगतराम चकित हो गये। उन्होंने समझा, विद्यावती पागल हो गई है। परन्तु जो कुछ विद्यावती ने देखा था, यदि वही जगतराम देख लेते तो निस्सन्देह वे स्वयं भी पागल हो जाते।

प्रारब्ध-परिवर्तन

(१)

सुलतानसिंह ने दृढ़ता से कहा—मैं एक वर्ष के अन्दर अन्दर अपना प्रारब्ध बदल लूँगा।

सागरचन्द जोश में तीर के समान तनकर खड़ा हो गया, और आश्चर्य से बोला—"तुम हँसी तो नहीं कर रहे!"

"यह हँसी का अवसर नहीं।"

"तो सच कह रहे हो?"

"हाँ हाँ सच।"

"इतने थोड़े समय में तुम सफल हो जाओगे, इसकी तुम्हें आशा है?"

"सोलह आने।"

"आज क्या तारीख़ है?"

सुलतानसिंह ने दीवार पर लटके हुए एक मैले से कैलेन्डर की ओर देख कर कहा—तीस आक्टोबर १९१२ ईसवी।

"तो पहली नवम्बर १९१३ का सूरज तुम्हें निर्धन न देखेगा।"

"कभी नहीं।"

सुलतानसिंह उन मनुष्यों में से था, जिन्हें लोग भलेमानस बदमाश कहते हैं। कभी उसने बहुत अच्छे दिन देखे थे। उसका पिता दौलतराम नगर के बड़े

बड़े रईसों में से एक था। उसके पास रुपये की कमी न थी। सदरबाज़ार में तीन दुकानें थीं, दो मकान, बैंकों में रुपया इनके अतिरिक्त था। परन्तु इतना ही नहीं, उसका हृदय भी सद्भावों से भरपूर था। जब तक जीता रहा, उसके नाम की नगर भर में पूजा होती रही। परन्तु इधर उसने आँखें बंद कीं, उधर सुलतानसिंह ने उसका रुपया उड़ाने पर कमर कस ली। दौलतराम की रोक-टोक ने सुलतानसिंह को कभी मर्य्यादा से बाहर न जाने दिया था। उस समय वह एक बे-पर के पक्षी के समान था, जिसकी बेबसी से अधिक करुणाजनक उसकी उड़ने की इच्छा थी। दौलतराम की मृत्यु ने उसको पर लगा दिये। दो वर्ष तक दिल खोलकर आनन्द लूटे और मनभाती मौजें करता रहा। यह काल उसके जीवन का सुख-स्वप्न था, जिसको तोड़ने के लिए कोई जागृति न थी। सप्ताह के सातों दिन जलसे होते रहते थे और ये जलसे कोई साधारण जलसे न होते थे। एक एक दिन में सैकड़ों पर पानी फिर जाता था। उसकी रङ्गरेलियों ने उसकी पैत्रिक सम्पत्ति को नष्ट कर डाला, जिस प्रकार बरसाती नालों का वेगवान् प्रवाह किनारों के टूट जाने से हरी-भरी खेतियों को निगल जाता है।

परन्तु फिर भी उसके चेहरे मोहरे से यह ख़याल न होता था कि उसमें ये गुण भी होंगे। वह इतना भलामानस और भोला-भाला प्रतीत होता था कि अनजान मनुष्य प्रायः धोखा खा जाते थे, और समझ बैठते थे कि उसके मुँह में तो दाँत ही नहीं। उसकी विनीत दृष्टि, नम्र आँखें और भोली बातें देखकर किसी को कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि यह मनुष्य विलासी भी हो सकता है। उसने नक़द रुपया उड़ा दिया, मकानों को रेहन भी रख दिया, परन्तु उन्हें बेचा नहीं। इमारत गिर गई थी, परन्तु चारदीवारी उसी प्रकार खड़ी थी। यह चारदीवारी उसकी पुरानी शोभा का चिह्न थी, जिसे बनाये रखने के लिए वह तन-मन से यत्न कर रहा था। मनुष्य इतना अपमान से नहीं डरता जितना उसकी चर्चा से डरता है। सुलतानसिंह ने जो कुछ किया, पर्दे की ओट में किया। यद्यपि उसकी थोड़ी बहुत निन्दा हो चुकी थी, तो भी इतनी नहीं कि लोग घृणा करने लगें। उसके पिता का दबदबा अभी तक बाक़ी था। मनुष्य मर जाता है, परन्तु उसका नाम जीवित रहता है।

इसी प्रकार कुछ वर्ष बीत गये। सुलतानसिंह की आँखें खुलीं। जब तक

हाथ खुला था तब तक कोई विचार न था। रुपया आता था, ख़र्च हो जाता था। बैंक से मँगवाने में कोई परिश्रम न करना पड़ता था। एक काग़ज़ का पुर्जा ही भेजने से काम चल जाता था। परन्तु जब वह ख़र्च हो गया तब बसन्त में पतझड़ के चिह्न दिखाई देने लगे। सुलतानसिंह चिन्ता में डूब गया। जिस प्रकार नाटक देखने के पश्चात् मनुष्य मण्डप के बाहर का अन्धकार देखकर घबरा जाता है, उसी प्रकार सुलतानसिंह के सामने निराशा ने अँधेरा खोल दिया। इस निराशा में कितनी वेदना थी, कैसा सन्ताप। सुलतानसिंह के हृदय पर मानो किसी ने गर्म लोहा रख दिया। एक दिन देर तक अपनी अवस्था की आलोचना करता रहा। अन्त में तलमलाकर खड़ा हो गया, और दृढ़ता से बोला—"मैं एक वर्ष के अन्दर अन्दर अपना प्रारब्ध बदल लूँगा।"

(२)

सागरचन्द सुलतानसिंह का मित्र था। सुलतानसिंह को उस पर पूरा-पूरा भरोसा था। वह अपनी गुप्त से गुप्त बातों में भी उसे सम्मिलित करने से नहीं हिचकिचाता था। सागरचन्द को केवल सुलतानसिंह के रुपये की लालसा हो, यह बात न थी। उसे स्वयं सुलतानसिंह से प्यार था। प्रायः देखा जाता है कि बुरे से बुरे मनुष्यों में भी कोई न कोई अच्छा गुण पाया जाता है, जिस प्रकार काली से काली घटा के गिर्द श्वेत धारी होती है। सागरचन्द छटा हुआ बद-माश था, परन्तु उसमें एक गुण था। मैत्री निभाने का भाव उसमें कूट-कूट-कर भरा हुआ था। जब सुलतानसिंह ने ख़र्च से हाथ खींचना आरम्भ किया तो उसके मित्रों का आना-जाना घट गया। वे अच्छे कुल के थे। परन्तु सागरचन्द की चाल-ढाल में अन्तर न आया, वह नीच कमीना था। प्लेग के दिनों में नगर ख़ाली हो जाते हैं, और कुलीन लोग लाशें छोड़-छोड़कर प्राण बचाने के लिए भाग खड़े होते हैं, परन्तु कमीने लोग अपने प्राणों की परवा नहीं करते।

सागरचन्द जब सुलतानसिंह के मन का भाव जान गया कि वह एक वर्ष में अपनी स्थिति को सुधार लेगा तब उसका हृदय आनन्द के हिलोरें लेने लगा, जैसे कमल जल में तैरता है। इस समय उसकी आँखों में चमक थी, होठों पर मुस्कराहट। सहानुभूति के भाव से आगे बढ़ा, और बोला—"क्या करोगे?"

सुलतानसिंह ने उत्तर दिया—"यत्न करना धर्म है, वह करूँगा, आगे देखना चाहिए, विधाता क्या करता है।"

सागरचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे सुलतानसिंह उससे बात छिपाता है। उसके कलेजे में तीर-सा लगा। अनमना-सा होकर बोला—"मुझसे नहीं कहोगे?"

सुलतानसिंह सागरचन्द की बात समझ गया। उसने घबराकर कहा—"मेरा यह आशय न था।"

"तो बात खोल क्यों नहीं देते?"

"अभी सुना चाहते हो या ठहरकर?"

"मेरा मन तो अभी चाहता है। जब तक सुन न लूँगा, चैन न आयेगा।"

सुलतानसिंह ने कमरे से बाहर दृष्टि दौड़ाई, और बोला—"मैं ब्याह करूँगा।"

"इसके पश्चात्?"

"स्त्री की ज़िन्दगी का बीमा करवा लूँगा।"

"फिर?"

"स्त्री मर जायगी।"

"न मरी तो?"

"न मरने का कारण क्या है? अवश्य मरेगी।"

सागरचन्द निपट मूर्ख ही न था। उसने मिडल तक शिक्षा पाई थी। सुलतानसिंह की भयानक हँसी देकर सब बात ताड़ गया, और बोला—"बहुत अच्छा, अर्थात् उनका जीवन तुम्हारे हाथ में होगा।"

"पूर्णरूप से।"

"इससे आगे चलो।"

"वह मर जायगी, मेरा प्रारब्ध बदल जायगा।"

सागरचन्द कुछ समय तक चुप रहा। उसने यह नहीं सोचा कि यह घोर पाप है। वह इससे भी आगे जाने को तैयार था। परन्तु डरता था कि कहीं सुलतानसिंह डोल न जाय अथवा इससे उसे कोई हानि न पहुँचे। उसने इस प्रश्न के प्रत्येक अंश पर विचार किया और कहा—"स्कीम तो बहुत बढ़िया है। यदि सफल हो जाय तो सचमुच तुम्हारा प्रारब्ध बदल सकता है, परन्तु इससे भय भी बहुत है।"

सुलतानसिंह ने उत्तर दिया—"भाई, मोती समुद्र की तह ही से निकलता है। उसके लिए मृत्यु के मुख में जाना होता है।"

इस समय सुलतानसिंह ऐसा प्रसन्न था, जैसे कोई राज्य मिल गया हो। सफलता का विचार सफलता से भी बढ़कर सुखदायक है।

इसके दो मास पश्चात् सुलतानसिंह का ब्याह हो गया।

(३)

सन्ध्या का समय था। सुलतानसिंह अपने आँगन में आरामकुर्सी पर बैठा एक उपन्यास देख रहा था। इतने में नौकर ने आकर कहा—"सरकार! मिनर्वा इनश्योरेंस कंपनी का एजंट आया है।

सुलतानसिंह ने पुस्तक हाथ से रख दी, और उठकर टहलने लगा। इस समय उसके हृदय में विचारों की उथल पुथल हो रही थी। सोचने लगा, क्या करने लगा हूँ। मेरे पिता ने लोक-हित के लिए पक्की सरायें बनवाई थीं, मैं अपने लिए एक निर्दोष बालिका की हत्या करने लगा हूँ। पिता-पुत्र में कितना अन्तर है। यदि यह बात किसी तरह खुल गई तो...

सुलतानसिंह का मस्तिष्क खौलने लगा, उस पर भयानक आतङ्क सा छा गया। पाप का विचार भी भयानक है। सुलतानसिंह का हृदय डोल गया। सोचा कि यह पाप न करूँगा। परन्तु इतने में लोभ ने सिर उठाया, मन का विचार बदल गया। सुलतानसिंह ने उत्तर दिया—"बुला लाओ।"

पाप का मार्ग कितना साफ़ है।

एजंट ने आकर सलाम किया, और बैठकर कंपनी के प्रासपेक्टस सुलतान-सिंह के हाथ में रख दिये। सुलतानसिंह ने कुछ पृष्ठ उलट-पलटकर देखे, और पूछा—"आपकी कंपनी स्त्रियों का बीमा भी किया करती है?"

एजंट ने कुछ विस्मित-सा होकर उत्तर दिया—"जी हाँ, करती है।"

"उसके Rates दिखलाइए।"

"कितने वर्ष के लिए?"

"बीस साल के लिए।"

एजंट ने एक पृष्ठ निकालकर कहा—"यह हैं।"

"बहुत ज़्यादा हैं।"

"स्त्रियों के अधिक ही होते हैं, कंपनी को बड़ा Risk होता है।"

"हूँ।"

"आप कितने रुपयों की पालिसी लेना चाहते हैं।"

"एक लाख की।"

एजंट ने उछलकर कहा—"एक लाख की?"

"हाँ एक लाख की; कितने रुपये मासिक देने होंगे?"

एजंट ने पहले यह हिसाब लगाया कि मुझे मासिक कमीशन क्या मिला करेगा। आशा ने अनार के फूल के समान मुँह का रङ्ग लाल कर दिया। फिर उसने धीरज से उत्तर दिया—"पाँच सौ रुपये मासिक।"

"बहुत बड़ी रक़म है, अर्थात् साठ लाख के लगभग तो हम देंगे और हमको मिलेगा एक लाख। इसमें तो साफ़ हानि दिखाई देती है।"

एजंट का कलेजा धड़कने लगा। डर था कि कहीं इरादा रह न जाय, जोश से बोला—"सरकार! कंपनी जो रिस्क सिर पर ले रही है वह भी तो थोड़ा नहीं, एक लाख की रक़म भी तो कोई चीज़ है। भारतवर्ष में इसकी प्रथा प्रचलित नहीं, योरप में प्रत्येक मनुष्य बीमा कराना अपना कर्त्तव्य समझता है। यही कारण है कि वहाँ एक मनुष्य की मृत्यु पर सारा परिवार भूखों नहीं मरता।"

सुल्तानसिंह अपने विचारों में निमग्न था। एजंट ने समझा, मेरा स्पीच काम कर गई। सँभलकर बोला—"तो फ़ार्म भर दीजिएगा, कल डाक्टरी परीक्षा हो जायगी।"

काँपते हुए हाथों से फ़ार्म भर दिया। दूसरे दिन डाक्टरी परीक्षा होगई। सुल्तानसिंह ने शान्ति का निःश्वास छोड़ा। सफलता के दो दर्जे पूरे हो गये। क्या तीसरा भी होगा।

(४)

छः मास बीत गये। सुल्तानसिंह ने अपनी स्त्री सतवन्ती की ओर ध्यान न दिया। वह प्रायः मर्दाने ही में रहता था। ज़नाने में जाते हुए उसका कलेजा काँपता था। वह प्रायः रात को भी मर्दाने में पड़ा रहता था

सतवन्ती से जहाँ तक हो सके कम भेंट करूँ, यही उसका यत्न था। उसके मुख की ओर देखकर उसके इरादे बदल जाते थे। वह कभी कभी उसकी मदभरी आँखों को देख लेता तो कई दिन तक उसके हृदय में हलचल मची रहती थी। उसकी यह इच्छा कि स्त्री कुरूपा हो, पूरी न हुई। वह परमसुन्दरी थी, जैसे सफ़ेद पत्थर की मूर्ति। उसे देखकर सुलतानसिंह चकित रह जाता था। उसने बढ़िया से बढ़िया सुन्दरियाँ देखी थीं, परन्तु ऐसी रूपवती स्त्री आज तक न देखी थी। उसे सन्देह होने लगा कि मैं अपना काम न कर सकूँगा। यह सौन्दर्य का चमत्कार था। कहते हैं कि सौन्दर्य से पशु भी वश में आ जाते हैं। क्या सुलतानसिंह उनसे भी गया गुज़रा है।

वर्षा के दिन थे, आकाश पर बादल खेलते थे। सुलतानसिंह शराब के मद में चूर हुआ, एक शीशी लिये ज़नाने में आया, और सतवन्ती से बोला—"तुम्हारे लिए दवा है। प्रतिदिन सवेरे उठकर पिया करो। तुम निर्बल हो रही हो, अच्छी हो जाओगी।"

यह दवा एक वैद्य ने तैयार की थी, जिसका घातक प्रभाव धीरे धीरे हड्डियों में घर कर जाता था, और जाँच करने से पता नहीं लगता था कि मृतक को विष दिया गया है। सतवन्ती ने पति के मुख से ये प्रेम से सने हुए वचन सुने, तो स्वर्ग में पहुँच गई, और मुस्कराती हुई बोली—"यह क्या है, शराब तो नहीं।"

"नहीं, ताक़त की दवा है"

"आप भी पिया करें, चिन्ता ने मुँह का क्या हाल कर दिया है।"

कैसा वचन था, प्रेमरस में डूबा हुआ। सुलतानसिंह के अन्तःकरण ने उसे फटकारना आरम्भ किया, परन्तु उसने अपने इस भाव को अन्दर ही अन्दर दबा दिया और कहा—"मेरे लिए दूसरी दवा बन रही है।"

इस समय उसके सीने में दिल ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था।

(५)

दिन चढ़ा, परन्तु सुलतानसिंह को सुधि न थी। सतवन्ती के हाथों के तोते उड़ गये। उसने घबराकर डाक्टर को बुलवाया। इस समय सुलतानसिंह

अचेत पड़ा था। डाक्टर ने आकर देखा १०६ डिग्री का ज्वर था? सतवन्ती सुनकर सहम गई, उसकी आँखों में पानी आ गया। भर्राई हुई आवाज़ में बोली—"कोई ख़तरा तो नहीं?"

"अभी तक तो कोई नहीं। परन्तु डर है कि बहुत जल्द नेमोनिया हो जायगा।"

सतवन्ती की रोकी हुई चीख़ निकल गई। डाक्टर ने कहा—"इससे क्या होगा, सेवा करो।"

बहता हुआ पानी थम गया। सतवन्ती सावधान होकर सेवा करने लगी। उसने समझ लिया कि इस समय रोने से काम न चलेगा। लुटता हुआ जीवन बच सकता है तो एक-मात्र सेवा से। वह पति के सिरहाने बैठ गई और समय पर दवा पिलाने लगी। दिन बीत गया, परन्तु ज्वर न घटा। रात बीती, पर अन्तर न पड़ा। डाक्टर ने आकर देखा और कहा—"जिस बात का डर था वह हो गई। नेमोनिया बन गया है।"

सत्यवन्ती के कलेजे में भाला सा चुभ गया। परन्तु उसने आँखों को वश में रखा और सेवा-शुश्रूषा में निमग्न हो गई। सुलतानसिंह लगातार एक मास बीमार रहा। सतवन्ती ने दिन-रात एक कर दिया। जब कभी सुलतान-सिंह सचेत होता, सतवन्ती श्रद्धाभाव से शुश्रूषा में लगी देख पड़ती।

यह देखकर वह सोचता, यह कितनी नेक है, प्रेम की मूर्त्ति, और मैं कितना नीच हूँ, रुपये का दास। इस विचार से उसके हृदय में सैकड़ों प्रकार के उथल-पुथल होने लगते। जो काम सुन्दरता न कर सकती थी, वह प्रेम और सेवा ने कर दिया।

जिस दिन सुलतानसिंह चारपाई से उठा, उस दिन सतवन्ती के आनन्द की थाह न थी। उसका मुख इस प्रकार चमकता था, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा। डाक्टर ने सुलतानसिंह से कहा—"मैं सच कहता हूँ कि यदि यह ऐसा मन लगाकर आपकी सेवा न करती तो आपका बचना असम्भव ही हो चुका था।"

डाक्टर चला गया, तो सतवन्ती ने घूँघट उठाया। सुलतानसिंह गद्गद प्रसन्न हो रहा था। वह अतिशय प्रेम में व्याकुल होकर बोला—"सतवन्ती!"

सतवन्ती ने उत्तर दिया—"आप बहुत निर्बल हो गये हैं, वह मेरी ही दवा पी लिया करें, निर्बलता दूर हो जायगी।"

सुलतानसिंह को जैसे किसी ने गोली मार दी, घबराकर बोला—"वह तुमने पी तो नहीं ली।"

"नहीं।"

"ज़रा ले आओ।"

सतवन्ती दौड़कर अलमारी से बोतल उठा लाई, और एक अपराधिनी के समान पति की ओर देखकर बोली—"आपकी बीमारी के कारण मुझे इसके पीने का ध्यान ही न रहा। क्षमा कर दें, अब पी लिया करूँगी।"

सुलतानसिंह ने उसे ज़ोर से दीवार पर मारा, और शान्ति की साँस ली।

सतवन्ती सहमकर पीछे हट गई, और बोली—"यह आपने क्या किया है? बड़ी क़ीमती दवा थी।"

सुलतानसिंह ने इसका कोई उत्तर न दिया, केवल सतवन्ती की ओर देखकर भुजाएँ फैला दीं।

एकाएक उसकी दृष्टि कैलेन्डर की ओर गई। उस दिन नवम्बर की पहली थी। उसे एक वर्ष पहले का वचन याद आ गया कि मैं एक वर्ष के अन्दर अपना प्रारब्ध बदल लूँगा, और पहली नवम्बर का सूरज मुझे निर्धन न देखेगा।

और क्या वह निर्धन था? उसे धन नहीं, परन्तु धन से बढ़कर ऐसी वस्तु मिल चुकी थी जिसके लिए संसार के राजे-महाराजे भी तरसते हैं।

थोड़ी देर बाद सागरचन्द आया, परन्तु इस तरह सहमा हुआ जैसे उसे कोई दण्ड मिलनेवाला हो। उसे खयाल ही नहीं, निश्चय होगया था कि जाकर सतवन्ती की मृत्यु का समाचार सुनूँगा। अतएव आश्चर्यभरी दृष्टि से उसने सुलतानसिंह की ओर देखा। आँखों ने आँखों से प्रश्न किया।

सुलतानसिंह ने मुस्कराकर कहा—"क्या पूछते हो?"

"सतवन्ती का क्या हुआ?"

"आनन्द-प्रसन्न है।"

सागरचन्द की छाती से जैसे कोई बोझ उतर गया। प्रसन्न होकर बोला—"धन्यवाद है उस परमेश्वर को, जो तुमने अपना वचन पूरा नहीं किया। अब

मैं उस बेचारी लड़की को दिन-रात घूँघट निकाले हुए श्रद्धा और प्रेम से तुम्हारी सेवा करते देखता था और उसके साथ ही तुम्हारी प्रतिज्ञा का ख़याल करता था, तब मेरा कलेजा काँप जाता था ?"

"परन्तु मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दी।"

सागरचंद घबराकर खड़ा हो गया, उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने उसका गला दबा दिया हो। रुक-रुककर बोला—"क्या कहते हो ?"

"मेरा प्रारब्ध बदल गया है, मैं अब निर्धन नहीं हूँ। परन्तु मेरे इस प्रारब्ध-परिवर्त्तन का कारण मेरी स्त्री की मृत्यु नहीं, प्रत्युत उसका जीवन है।"

यह कहते कहते सुलतानसिंह ने अपनी सजल आँखें बन्द कर लीं और आरामकुर्सी के सहारे पीठ लगाकर लेट गया।

कमल की बेटी

(१)

रात्रि का समय था, चन्द्रमा की धवल किरणें पृथ्वी को अपनी शीतल चाँदनी में स्नान करा रही थीं। श्रीकृष्ण ने ठण्डी साँस भरी और कहा, "मेरा विचार झूठा निकला। मनुष्य संसार का सर्वोत्तम पदार्थ नहीं। कमल का यह फूल जो वायु के झोंकों के साथ क्रीड़ा कर रहा है, उससे कहीं अधिक मनोहर और दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला है। उसकी पँखड़ियाँ कैसी सुन्दर हैं, उसका रङ्ग कैसा मनोहारी है, उसका रूप कैसा अनुपम और नयनाभिराम है। सौन्दर्य्य के बाज़ार में यह निर्जीव पुष्प सकल संसार की सबसे अधिक रूपवती कामिनी को परास्त कर सकता है। प्रत्युत यदि जगत् का सम्पूर्ण सौन्दर्य्य एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाय, तब भी उसमें यह मोहनी नहीं आ सकती, जो इस अकेले फूल के अन्दर समाई हुई है। मैं चाहता हूँ कि इस प्रकार की एक लड़की उत्पन्न करूँ, जो मनुष्यों में ऐसी हो, जैसे फूलों में कमल। जिससे संसार के अँधेरे कोण जगमगा उठें, और जिसके सम्मुख श्यामा का सङ्गीत भी मन्द पड़ जाय।"

यह सोचकर श्रीकृष्ण कुछ क्षण चुप रहे, और फिर एकाएक अपनी लाँबी अँगुली उठाकर बोलेः—"ऐ कमल के निर्जीव पुष्प! एक सजीव सुन्दरी के रूप में बदल जा, और मेरे सामने खड़ा हो।"

जल की लहरों ने अपने आपको सरोवर के तटों के साथ टकराया। रात्रि अधिक सुन्दर हो गई। चन्द्रमा की किरणें अधिक प्रकाशमान हो गईं। सरोवर का जल मोतियों के समान चमकने लगा, मानो चन्द्रमा की चाँदनी उसमें घुल हो गई। सोती हुई चिड़ियाँ अपने प्राणों की सम्पूर्ण शक्ति से गाने लगीं, और कुछ देर के बाद सहसा चुप हो गईं। कमल के फूल ने जल में डुबकी लगायी और एक लावण्यवती सुन्दरी अपने पँखड़ियों के सदृश कोमल वस्त्र निचोड़ती हुई बाहर निकली।

श्रीकृष्ण का हृदय प्रसन्नता से धड़क रहा था। उन्होंने कमल की बेटी को देखा और काँपती हुई आवाज़ में कहा:—"पहले तुम कमल का निर्जीव फूल थीं, अब तुम कमल की सजीव बेटी हो। बातें करो।"

कमलकुमारी ने सिर झुकाकर बोलना आरम्भ किया, वायु में सुगन्धि भर गई—"महाराज! मैं आपके आदेश से उत्पन्न हुई हूँ, आपकी आज्ञा पर चलूँगी। कृपया कहिए, मैं कहाँ निवास करूँ?"

श्रीकृष्ण ने चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाकर देखा और उत्तर दिया—"पुष्पवाटिका में।"

"महाराज! वहाँ वायु फूलों को थपेड़े लगाती है।"

"क्या तुम पर्वतों की ऊँची चोटियाँ पसन्द करोगी?"

"वहाँ बर्फ़ है। शीत से मेरा हृदय काँपने लगेगा।"

"अच्छा! तो समुद्रतल में। वहाँ मैं तुम्हारे लिए मूँगे का महल बना दूँगा।"

"परन्तु वह बहुत गहरा है।"

श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर पूछा—"तो फिर तुम्हें कहाँ रखें, क्या हिमालय की कन्दराओं में?"

कमल की बेटी का अङ्ग अङ्ग थर्रा गया। उसने काँपते हुए कहा:—"वहाँ अँधेरा है।"

"कमल के फूलों के पास, जल के ऊपर?"

"वहाँ काई है।"

"निर्जन वनों में?"

"वहाँ एकान्त है। इसमें मेरा रक्त नाड़ियों में जम जायगा।"

श्रीकृष्ण ने माथे पर हाथ फेरा। इस समय उनका चित्त बहुत उदास था। उन्होंने अपनी बाँसुरी निकाली, और उसे बजाने लगे।

(२)

रात्रि बीत गई। सूरज की किरणें जल पर नाचने लगीं। सरोवर का जल, ताड़ के पत्ते, वृक्षों पर रहने वाले पक्षी, निद्रा से जागे, मानो प्रकृति में नये सिरे से जान आ गई।

श्रीकृष्ण ने कहा, "वह कवि है।"

सरोवर के निर्मल जल पर एक लम्बी छाया दिखाई दी। वायु में किसी की मदभरी तान गूँजी। हरे हरे घास पर किसी के पाँवों की हलकी सी चाप सुनाई दी। और थोड़ी दूरी पर एक नवयुवक हाथ में वीणा लिये आता दिखाई दिया। श्रीकृष्ण ने उसे देखा, और फिर दुबारा कहा, "वह कवि है।"

कवि समीप आया—एक दूसरा सूरज उदय हो गया। उसने कमल की बेटी को देखा तो वीणा उसके हाथ से गिर गई और पाँव भूमि में गड़ गये, जैसे किसी ने उनमें बेड़ियाँ डाल दी हों। श्रीकृष्ण ने कमल के फूल को जीती-जागती लड़की बनाया था, लड़की के अनुपम लावण्य ने कवि को आश्चर्य की मूर्त्ति बना दिया।

श्रीकृष्ण ने पूछा—"कवि! क्या हाल है?"

कवि ने चौंककर वीणा सँभाली और सिर झुकाकर उत्तर दिया—"मैं प्रेम करता हूँ, प्रेम के पद बनाता हूँ, और प्रेम का सङ्गीत गाता हूँ...मेरे जीवन का एक एक क्षण प्रेम के लिए समर्पित हो चुका है।"

यह कहते कहते कवि ने कमल की बेटी की ओर प्यासे नेत्रों से देखा, और एक ठण्डी साँस भरी।

श्रीकृष्ण बैठे थे, खड़े हो गये और बोले, "सुन्दरी! मुझे तुम्हारे लिए स्थान मिल गया।"

"कहाँ?"

कवि का कलेजा धड़कने लगा, श्रीकृष्ण ने कहा "इस कवि के हृदय में आकर रहो।"

कवि ने सिर झुका दिया। उसकी वीणा के तारों से झंकार का शब्द निकला। कमल की बेटी सौन्दर्य्य के कटाक्ष से आगे बढ़ी, और कवि के हृदय में प्रविष्ट होने लगी। परन्तु एकाएक पीछे हट गई। इस समय उसका मुख-मण्डल भय से हिम की नाईं सफ़ेद था। श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ "क्या तुम वहाँ भी डरती हो?"

(३)

कमल की बेटी की आँखों में आँसू लहराने लगे। उसने गद्‌गद वाणी से कहा "महाराज! आपने मेरे लिए कैसा स्थान चुना है। वहाँ तो गगनभेदी पर्वतों की हिम से पटी हुई ऊँची ऊँची चोटियाँ, भयानक तरङ्गवाले समुद्र की गहराइयाँ, शून्य वनों का सन्नाटा, और हिमालय की अँधेरी गुफाएँ, सब कुछ विद्यमान हैं। मैं वहाँ कैसे रहूँगी।"

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया:—"न डरो! सुन्दरी न डरो। डरने का कोई कारण नहीं। तुम सुन्दरी हो, तुम्हारा आसन कवि का हृदय है। यदि वहाँ हिम है, तो तुम सूरज बनकर उसे पिघला दो। यदि वहाँ समुद्र की गहराई है तो तुम मोती बनकर उसे चमका दो। यदि वहाँ एकान्त है, तो मधुर सङ्गीत आरम्भ कर दो, सन्नाटा टूट जायगा। यदि वहाँ अँधेरा है, तो तुम दीपक बन जाओ, अँधेरा दूर हो जायगा।"

कमल की बेटी इनकार न कर सकी। वह अब तक वहीं रहती है*।

---

* पोलैंड के सुप्रसिद्ध गल्प-लेखक Henryk Sienkiewicz की एक गल्प के आधार पर।

पुनर्जन्म

(१)

धन तृष्णा का ईंधन है। ज्यों-ज्यों रुपया आता-जाता है, तृष्णा बढ़ती जाती है। सहारनपुर के लाला अयोध्यानाथ जब तक निर्धन थे, तब तक उन्हें रुपयों की लालसा न थी। परन्तु जब चार पैसे हो गये, तो दिन-रात उन्हें बढ़ाने की चिन्ता हुई। सोचते थे, कोई ऐसी युक्ति निकल आवे, जिससे कुछ ही दिनों में लाखों रुपये इकट्ठे हो जायँ। कभी वह रुपये-पैसे को हाथ का मैल समझते थे। उस समय वह मूर्ख थे। परन्तु अब पैसे पैसे के लिए उनके प्राण निकलते थे। अब उनकी आँखें खुल गई थीं। साधु-महंतों की सेवा के लिए कभी वह बड़ी श्रद्धा रखते थे। उस समय वह निर्धन मनुष्य थे। परन्तु अब इसे वह सबसे बड़ी भूल समझने लगे थे। बैंक में चार पैसे इकट्ठे हो गये थे। इतना ही नहीं, तृष्णा की धधकती हुई ज्वाला ने उनके शेष गुणों को भी उसी प्रकार भस्म कर दिया था, जिस प्रकार दावानल वन के साथ गाँव को भी जलाकर राख कर देती है। मगर उनका अंतःकरण सर्वथा नष्ट हो गया हो, यह बात न थी। कभी-कभी पुरानी प्रकृति का दौरा हो जाता था, जिस प्रकार युवावस्था के चेहरे में कभी-कभी बचपन का रूपरंग झलकने लगता है। परन्तु यह अवस्था चिरस्थायी नहीं रहती थी। नये स्वभाव के सामने पुराने विचार इस

प्रकार दब जाते थे, जिस प्रकार बुढ़ापा यौवन को पछाड़ देता है। लाला अयोध्यानाथ के द्वार पर कोई साधु-महंत आ जाता, तो उनका मुख फूल की तरह खिल जाता था। परन्तु आदर-सत्कार के समय वह श्रद्धा न रहती थी। चन्द्रमा को ग्रहण लग जाता था।

(२)

संध्या का समय था। लाला अयोध्यानाथ के द्वार पर एक साधु आकर रुका, और एक विशेष गौरव के साथ बोला—"क्यों बाबा रात काटने के लिए साधु को स्थान मिल जायगा?"

साधु का मुख संतोष की मूर्ति था, और आँखें अमृत के कटोरे। लाला अयोध्यानाथ का हृदय भक्ति-भाव से भर गया। सादर झुककर बोले—"सिर आँखों पर!"

साधु ने मुस्किराकर कहा—"बेटा! आजकल के समय में तुम्हारे जैसे भक्त पुरुष कहीं-कहीं विरले ही रह गये हैं। संसार से तो धर्म का भाव ही जैसे उठ गया है।"

अयोध्यानाथ का हृदय खिल गया। अपनी प्रशंसा साधु के मुख से सुनकर उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उन्हें स्वर्ग मिल गया हो। हँसी होंठों तक आ गई, परन्तु उसे दबाकर बोले—"महाराज, यदि साधु-संतों की सेवा न की, तो इस मनुष्य-देह से लाभ ही क्या?"

साधु अंदर पहुँचा। लाला अयोध्यानाथ ने आदर-सत्कार में कोई बात उठा न रखी। बासमती के चावल बनाये, मीठे दही के बड़े। दाल और भाजियों में घी इस तरह तैरता था, जिस तरह नदी-नालों में जल। लाला अयोध्यानाथ साधुओं को ऐसे अच्छे और पुष्टिकारक पदार्थ खिलाने के पक्षपाती न थे। परन्तु इस साधु की बातों में न-जाने कैसी शक्ति थी कि उनके वर्षों के विचार क्षण-भर में बदल गये, जिस प्रकार गरमी की सूखी हुई पृथ्वी एक ही दिन की वर्षा से हरी-भरी हो जाती है। इस भक्ति-भाव से साधु का हृदय प्रसन्न हो गया। रात को देर तक बातें होती रहीं। ज्ञान और भक्ति के दफ्तर खुल गये। अन्त में अयोध्यानाथ ने पूछा "महाराज, आप साधु कैसे हुए?"

साधु ने हँसकर उत्तर दिया—"बेटा, बुढ़ापा आ गया है, 'अब क्या सारी आयु गृहस्थी ही में फँसा रहूँ ? कुछ हरिभजन भी तो करना चाहिए । तुम्हारी कृपा से बहुत रुपया कमाया । पाँच पुत्र हैं, एक कन्या । अब रुपया पैसा सब उन्हें बाँट दिया है, और तीर्थ-यात्रा को जा रहा हूँ ।"

अयोध्यानाथ ने साधु के मुख की ओर देखा, और पूछा—"तो आपने अपना सब कुछ बच्चों को दे दिया, या अपने पास भी कुछ रखा है ?"

साधु ने उत्तर दियाः—"मेरे हाथ में जो लोहे की लाठी देखते हो, यह अंदर से खोखली है । इसमें मैंने एक सौ मुहरें डाल रखी हैं । यात्रा में कभी-कभी धन की आवश्यकता पड़ जाती है ।

यह कहते-कहते साधु को नींद आ गई । परन्तु अयोध्यानाथ की आँखों में नींद न थी । वह बार-बार सतृष्ण नेत्रों से लाठी की ओर देखते, और मन ही-मन कुछ सोचते थे । लोभ धर्म के पीछे छिपा हुआ था । कुछ समय तक यह संग्राम होता रहा । अंत में लोभ ने धर्म को पछाड़ दिया । अयोध्यानाथ ने लाठी उठा ली । परन्तु हाथ-पैर काँप रहे थे । अंतःकरण ने फिर फड़फड़ाना शुरू किया । परन्तु लोभ के दृढ़ हाथों ने उसका गला घोंट ही तो दिया । अयोध्यानाथ ने कमानी दबाई, लाठी खोलकर मुहरें निकालीं, और उनके स्थान में पैसे भर दिये । पाप का जादू चल गया ।

(२)

दिन चढ़ा । साधु हरद्वार जाने को तैयार हुआ । अयोध्यानाथ का हृदय बैठता जाता था । उन्हें डर था कि कहीं साधु को संदेह न हो जाय । इस विचार से उनके चेहरे का रंग उड़ा जाता था । परन्तु साधु को इस घटना की कुछ भी खबर न थी । वह मुस्करा-मुस्कराकर बातें करता और रात के आदर-सत्कार के लिए बार-बार धन्यवाद देता था । चलते समय अयोध्यानाथ ने कहा—"महाराज, मेरे यहाँ संतान नहीं है । आप ईश्वर से प्रार्थना करें । हम पापी लोग हैं, हमारी प्रार्थना में असर नहीं है । आप महात्मा हैं, परमात्मा आपकी सुनेगा ।"

साधु ने उत्तर दिया—"सुनेगा या नहीं, यह तो वही जाने । परन्तु मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि भगवान् तुम्हें संतान दे ।"

यह कहकर साधु चला गया, अयोध्यानाथ के सिर से बोझ उतर गया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो साधु के जाने के साथ ही उनके हृदय से पत्थर हट गया। वह इस चोरी के फल से नहीं बच सकते थे, यह उनका मन और मस्तिष्क अनुभव कर रहा था। परन्तु वह इस चोरी के प्रकट होने से बहुत डरते थे। चोरी का प्रकट होना प्रत्यक्ष था, किन्तु उसका फल भविष्य के परदे में था। मनुष्य वर्तमान समय के सामने भविष्य की परवाह नहीं करता।

उधर साधु हरद्वार पहुँचा, तो हृदय प्रसन्न हो गया। यहाँ साधु-संतों को देखकर उसे ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो स्वयं भगवान् के दर्शन हो गये हों। उसका मन ब्रह्मानन्द में लीन हो गया। एक हलवाई को बुलाकर बोला—"मैं एक महायज्ञ करना चाहता हूँ, जिसमें हरद्वार के समस्त साधुओं को भोजन कराया जायगा। उसमें सारा ख़र्च कितना बैठेगा?"

हलवाई ने अंदाज़ा लगाकर उत्तर दिया—"साढ़े सात सौ रुपये।"

"इसमें सब कुछ हो जायगा?"

"बहुत अच्छी तरह।"

साधु ने क्षण-भर सोचा, और फिर कहा—"तुम यह प्रबन्ध कर सकोगे?"

"कर सकेंगे।"

"तो सब प्रबन्ध तुम ही करो। जो ख़र्च होगा, मैं दूँगा।"

यह कहते-कहते उसने एक भाव-भरी दृष्टि से अपनी लाठी की ओर देखा।

हलवाई ने उत्तर दिया—"आप निश्चिन्त रहें, सब प्रबन्ध हो जायगा।"

दूसरे दिन यज्ञ हुआ। हरद्वार-भर में धूम मच गई। लोग देखते थे, और आनन्द से झूमते थे। कहते थे, यज्ञ बहुत देखे हैं, परन्तु इस उदारता और भक्ति-भावना से रुपये पानी की तरह बहाते किसी को नहीं देखा। ऐसे धनाढ्यों की कमी नहीं, जिनके पास मुहरों की ढेरें हैं। वे मुकद्दमेबाज़ी में लाखों लुटा देते हैं, बेटे के ब्याह में लाखों उड़ा देते हैं; परन्तु धर्म की राह पर पैसा ख़र्च करते समय उनके दिल छोटे हो जाते हैं। यह मनुष्य है, जिसने अपना सच्चा धर्म समझा है, और धर्म के सामने पैसे का मुँह नहीं देखा। साधु का दिमाग़ आसमान पर पहुँच गया, और उसका हृदय आनन्द के हिलोरे लेने लगा। साधु प्रसन्न हो रहा था, परन्तु उसका भाग्य रो रहा था।

(४)

शाम हुई। साधु ने अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया, और लाठी की कमानी दबाई। उसके अन्दर पैसे देखकर उसका हृदय काँप गया! उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह कोई भयानक स्वप्न देख रहा है। उसे अपने नेत्रों पर विश्वास न होता था। वह चाहता था कि यह स्वप्न जितनी जल्दी हो सके, समाप्त हो जाय। परन्तु यह स्वप्न ऐसा न था, जिसके पश्चात् जागृति आती है। उसने पैसों को आँखें मल-मलकर देखा। उसे ख़याल था कि अब भी मेरी भूल दूर हो जायगी। परन्तु प्रत्येक पैसा वही पैसा था। साधु के मुख पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। हलवाई का हिसाब थोड़ी देर बाद देना था। सोचा, अब क्या होगा! अपमान का चित्र आँखों के सामने खिंच गया। साधु काँपकर खड़ा हो गया। अपमान का विचार अपमान से अधिक भयानक है। साधु में उसके सहन करने की शक्ति न थी। उसने कुछ देर विचार किया, जिस प्रकार निराश मनुष्य समुद्र में कूदने से पहले विचार करता है, फिर दरवाज़ा बन्द कर लिया। साथ ही उसकी आशा के दरवाज़े भी बन्द हो गये। साधु ने चारपाई की पाँइती निकाली, और उसे छत से लटका दिया। मृत्यु दरवाज़े पर खड़ी थी। अंतःकरण ने उपदेश किया, दिमाग़ ने युक्तियाँ दीं। परन्तु निराशा ने सब ओर अँधेरा फैला दिया। साधु का मुख मृतक के समान सफ़ेद हो गया। तब उसने चारपाई पर खड़े होकर रस्सी का फंदा गले में डाला, और थरथराते हुए पावों की अंतिम चेष्टा से चारपाई को ठोकर मारकर गिरा दिया। मृत्यु अंदर आ गई।

कैसा आनंदमय प्रभात था, परन्तु किसे पता था कि उसकी शाम ऐसी दुःखमयी होगी। थोड़े समय के पश्चात् यह घटना बच्चे-बच्चे के मुँह पर थी।

(५)

साधु मर गया, परन्तु उसका आशीर्वाद ज़िन्दा था। साल के भीतर ही अयोध्यानाथ के घर पुत्र उत्पन्न हुआ। मरी हुई आशाओं में जान पड़ गई। अयोध्यानाथ ऐसे प्रसन्न थे, मानो सारे संसार का धन मिल गया हो। अँधेरे घर

में प्रकाश हो गया था। उनके पैर पृथ्वी पर न पड़ते थे। बालक का नामकरण-संस्कार बड़ी धूमधाम से किया गया। इस उत्सव के अवसर पर एक बड़ा भोज दिया गया। उस दिन अयोध्यानाथ ने सारी आयु की कृपणता की कोर-कसर निकाल दी; रुपये पैसे पानी की तरह बहाये। बालक का नाम द्वारकानाथ रखा गया। ज्यों-ज्यों वह आयु में बढ़ता जाता था, अयोध्यानाथ की कामनाएँ पञ्जा पसारती जाती थीं। द्वारकानाथ बहुत सुशील बालक था। उसकी बुद्धि देखकर आश्चर्य होता था। लोग कहते थे, यह कुल का नाम बढावेगा। अयोध्यानाथ यह सुनते, तो फूले न समाते। उसकी शरारतों और चंचलताओं को देखकर उनका प्यार बढ़ता जाता था। इसी प्रकार छः वर्ष बीत गये। द्वारकानाथ स्कूल में पढ़ने गया। वहाँ उसके गुणों का विकास होने लगा। सोना कुंदन बन गया। वह सदैव अपनी श्रेणी में प्रथम रहा करता था। अयोध्यानाथ यह देखते और परमात्मा को धन्यवाद देते थे।

परन्तु कभी-कभी जब उन्हें साधु के साथ अपना दुर्व्यवहार याद आ जाता, तो उनके कलेजे में भाले चुभ जाते थे, और उनकी आत्मा पर एक अज्ञात-सा भय छा जाता था। उन्हें अब रह-रहकर अपने ऊपर क्रोध आता था। वह बहुधा मन ही मन दुखी होते थे कि मेरी बुद्धि पर कैसा परदा पड़ गया, जो ऐसी मूर्खता कर बैठा। वह गुज़रा हुआ समय उनके हाथ न आता था। उन्हों ने वह मुहरें एक रूमाल में बाँधकर एक संदूक में रख दी, और निश्चय कर लिया कि उस साधु को दे देंगे। उसकी खोज में उन्होंने कई मनुष्य भेजे, परन्तु उनकी साधु तक पहुँच न हो सकी। यहाँ तक कि यह घटना अयोध्यानाथ को भूल गई। परन्तु वह मुहरों की पोटली उसी तरह पड़ी रही।

(६)

द्वारकानाथ अठारह वर्ष का हो गया।

वसन्त के दिन थे। खेतों में सरसों फूली हुई थी। अयोध्यानाथ द्वारकानाथ और धर्मपत्नी के साथ हरद्वार को चले। वहाँ पहुँचकर अयोध्यानाथ को एक नया रहस्य मालूम हुआ। द्वारकानाथ की प्रकृति साधुओं की-सी थी। वह दिन-रात साधुओं के डेरों में घूमता रहता था। अयोध्यानाथ यह देखकर कुढ़ते

थे; परन्तु कुछ कर न सकते थे। द्वारकानाथ का मुख देखकर उनका क्रोध तत्काल उतर जाता था। वह बहुतेरा सोचते थे, परन्तु उन्हें द्वारकानाथ की इस प्रकृति का कारण समझ नहीं पड़ता था।

सायंकाल था। द्वारकानाथ अपने डेरे को लौट रहा था कि रास्ते में एक आदमी रोता हुआ मिला। द्वारकानाथ ने आश्चर्य से पूछा—"क्यों, रोते क्यों हो?"

"क्या कहूँ, कहते लज्जा आती है।"

"फिर भी।"

"व्यापार में घाटा पड़ गया है।"

"यह तो एक मामूली बात है।"

उसने विचित्र भाव से द्वारकानाथ की ओर देखकर कहा—"मुझे ऋण चुकाना है। वह मुझ पर नालिश करनेवाले हैं।" द्वारकानाथ कुछ देर चुप रहा। यह मौन इस अभागे के लिए आशा बन गया। बहते हुए आँसू रुक गये। द्वारकानाथ ने पूछा—"कितने रुपयों से तुम्हारा काम चल सकेगा?"

जब मनुष्य निराश हो जाता है, तो उसे पग-पग पर आशा दिखाई देती है। उस आदमी को भी साहस हो गया। उसने हिसाब लगाकर उत्तर दिया—"मेरे सिर चौदह सौ रुपये के लगभग ऋण चढ़ा हुआ है?"

"चौदह सौ रुपये!"

"हाँ, चौदह सौ रुपये।"

द्वारकानाथ कुछ देर चुप रहा। फिर सहसा उसने कहा—"चिन्ता न करो, प्रबंध हो जायगा।"

"आगंतुक ने पूछा—"तो कब तक?"

"आज ही रात तक। तुम्हारी दूकान कहाँ है?"

"चौक में जो हलवाई की बड़ी दूकान है, वह मेरी ही है।"

द्वारकानाथ उड़ता हुआ घर पहुँचा। उस समय उसके हृदय में हलचल मची हुई थी। उसका चित्त व्याकुल था। वह चाहता था कि जितनी जल्दी हो सके, हलवाई का संकट दूर कर दे। उसे किसी दिव्य शक्ति ने विश्वास दिला दिया था कि इसकी सहायता करना मेरा ही धर्म है। वह एक विशेष भावुकता

के साथ घर गया। माता और पिता, दोनों कहीं बाहर थे। द्वारकानाथ का रास्ता साफ़ हो गया। उसने नौकर से चाबियाँ लीं, और कमरे के अंदर गया। परन्तु संदूक़ में ताला लगा था। द्वारकानाथ पर भूत-सा सवार था। उसने पत्थर लेकर दरवाज़ा तोड़ डाला और फिर संदूक टटोलने लगा। निराशा ने पैर फैलाये, मगर आशा ने ढाढस बँधा दी। एकाएक आशा की चमक दिखाई दी, द्वारकानाथ के हाथ में एक रूमाल आ गया। उसने काँपते हुए हाथों से उसे जल्दी से खोला। हृदय कमल की तरह खिल गया, यह वही मुहरें थीं। गिनी, पूरी सौ निकलीं। हृदय प्रफुल्लित हो गया। वह उन्हें जेब में रखकर इस तरह भागा, जैसे कोई पुलिस का कर्मचारी पीछे लगा हो। द्वारकानाथ ने भलाई के लिए बुराई की। परन्तु ऐसी बुराई करनेवालों की संख्या कितनी है?

रात का समय था। द्वारकानाथ अपने डेरे को वापस आया। परन्तु अभी आकर बैठा ही था कि पेट में पीड़ा होने लगी। द्वारकानाथ साहसी नवयुवक था। बड़े से बड़े कष्ट में भी वह हिम्मत न हारता था। परन्तु यह पीड़ा न जाने किस प्रकार की थी कि उसके मुख से चीख़ें निकल गईं। अयोध्यानाथ को ऐसा जान पड़ा, जैसे कोई विपत्ति पड़नेवाली है। यह आनेवाली विपत्ति का पूर्व रूप था। वह दौड़े हुए डाक्टर के पास गये, परन्तु अभी वापस न आये थे कि द्वारकानाथ ने प्राण त्याग दिये। अयोध्यानाथ ने यह सुना, तो पछाड़ खाकर गिर पड़े, और कई दिन तक बीमार रहे। परन्तु द्वारकानाथ को क्या हो गया, यह आज तक उनकी समझ में न आया। एक दिन संदूक में किसी चीज़ के लिए हाथ डाला, तो मुहरोंवाला रूमाल न था। एकाएक उनको कई वर्षों की भूली हुई घटना याद आ गई। परन्तु उन मुहरों का चला जाना और द्वारकानाथ का अचानक मरना, इन दोनों घटनाओं में क्या संबंध है, इसे वह कभी न समझ सके।

प्रेम का पापी

मिस्टर श्यामलाल देहली के विख्यात बैरिस्टर थे, बड़े ही सुन्दर, सुडौल और पूरे अप-टु-डेट। उनका विवाह अमृतसर के रईस पण्डित शिवचन्द्र की कन्या रूपवती के साथ हुआ था। रूपवती का म्याना क़द था, गोरा रंग, बड़ी सुन्दर और सलोनी आकृति। उससे जो मिलता वही उसके गुणों की प्रशंसा करता, परन्तु उसमें एक दोष भी था। वह ओछी न थी। हृदय मन्दिर में पति की पूजा करती थी, परन्तु मुख से प्रेम का एक भी वचन न कह सकती थी। वियोग की घड़ियाँ कितनी कड़वी और दुखदायिनी होती हैं। इस बात को अनुभव करती थी, परन्तु पति के सम्मुख प्रकट न कर सकती थी।

परन्तु श्यामलाल की प्रकृति इससे विपरीत थी। वे सांसारिक मनुष्य के सामने प्रेम-प्रतिज्ञा, स्नेह के वचन और प्यार की बातें मुँह से सुनने के आकांक्षी थे। उनकी प्रकृति बहुत रसीली थी, प्रायः मुकद्दमों की फाइलें मेज़ पर छोड़कर अन्दर चले जाते और रूपवती से बातें करने लगते। उसके कोमल हाथ अपने हाथों में लेते। उसके मुख की ओर देखते, और प्रेम के दफ़्तर खोल देते। कहते प्रिये! मैं सोता हूँ तो तुम्हारे स्वप्न देखता हूँ। जागता हूँ, तो तुम्हारी बाबत सोचता हूँ। कचहरी में तुम्हारी याद मेरा साहस बढ़ाती है; नहीं तो कई अभियोग बिगड़ जाएँ। मैं तुम्हें अपने मन की पूरी शक्ति से प्रेम करता हूँ। परन्तु तुम हो कि पत्थर की मूर्त्ति के समान होंठ तक नहीं हिलाती। कहो तो सही, तुमको मुझसे कितना प्रेम है।"

रूपवती कुछ कहना चाहती, परन्तु लज्जा मुँह बन्द कर देती। फिर यत्न करती, परन्तु असफल रहती। अन्ततः उसका मुँह लाल हो जाता, मानो उससे कोई अपराध हो गया हो। तब वह अपने प्रेम-भरे नयन पति के मुख पर गाड़ देती, और जीभ का काम नेत्रों से लेने का यत्न करती। श्यामलाल कुछ न समझते, परन्तु रूपवती हँसकर सिर झुका लेती, और धीरे से उत्तर देती "क्या आपका काम समाप्त हो गया?" इस पर श्यामलाल लटपटाकर बाहर निकल जाते और काग़ज़ों को भूमि पर पटक देते।

इसी प्रकार कई दिन गुज़र गये, श्यामलाल का चित्त व्याकुल रहने लगा। रूपवती उनसे हृदय से प्यार करती थी, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं, परन्तु श्यामलाल को इससे सन्तोष न था। वे इतने हार्दिक प्रेम के इच्छुक न थे जितने प्रेम के वचन सुनने के! प्रायः सोचते, ऐसी सुन्दर स्त्री पाकर भी आनन्द न मिला। चाँदने पाख में इतना अँधेरा होगा, इसकी आशा न थी। रूप देखकर रीझ गये थे, परन्तु अब भूल का अनुभव हुआ। वे पत्नी माँगते थे, परन्तु उनको देवी मिली, जिसमें भक्ति थी, श्रद्धा थी, परन्तु चंचलता और तरलता न थी।

(२)

रूपवती की जिह्वा में लज्जा थी, उसकी आँखें उससे दसगुना अधिक तेज थीं। बात को तत्काल भाँप लेती थी। जब श्यामलाल का चित्त डाँवाडोल हुआ, और आँखें प्रेम के सौदे में लीन हुईं, तो रूपवती सब कुछ समझ गई। उसकी निद्रा खुली, परन्तु उस समय जब कि समय हाथ से निकल चुका था। परन्तु फिर भी उसकी बातचीत में अन्तर न आया।

सावन के दिन थे। श्यामलाल ने रूपवती से कहा—"कहो तो झूला डल-वायें, चलोगी?"

रूपवती ने उत्तर दिया "यहीं हार्मोनियम न ले आओ। इतनी दूर कौन जायगा।"

"तुम कुछ गाकर सुनाओगी?"

"यह कैसे हो सकता है।"

"मैं प्रेम का पुजारी हूँ। सावन के दिनों में बग़ीचे में सौन्दर्य खिलता है, वहाँ जाने को दिल अधीर हो रहा है।"

"तुम प्रेम करते हो ? किसे ।"

"सारे संसार में केवल तुम्हें ।"

"तो आप हो आयें, मैं मनाही नहीं करती ।"

श्यामलाल निराश होकर चले गये । कुछ समय पश्चात् रूपवती ने मन में सोचा—मैंने अच्छा नहीं किया । पता नहीं, उनके मन में कौन कौन सी उमंगें उठ रही थीं । उन सब पर पानी फिर गया । किस उत्साह से आये थे, परन्तु मेरी रुखाई ने उदास कर दिया । मेरा भला किस युग में होगा ।

यह सोचकर उसने नौकर को बुलाया और कहा "मोटर तैयार करो, मैं मोहनबाग़ जाऊँगी ।"

नौकर ने उत्तर दिया "मोटर बाबू जी ले गये हैं ।"

"बन्द बग्घी है ?"

"वह स्टेशन पर गई है ?"

"ताँगा ?

"वह बेकार पड़ा है ।"

रूपवती ने सोचा । मुझे उनको मनाना है, तो बग्घी की क्या आवश्यकता है । पैदल चलूँगी और अपने अपराध की क्षमा माँगूँगी । मेरा अभिमान उन्होंने अब तक निभाया है, परन्तु मैंने उनकी क़द्र नहीं की । आज निराशा उनके नेत्रों से टपक रही थी, यह तो हद हो गई ।

इतना सोचकर उसने एक सामान्य-सी साड़ी पहनी और नौकर को साथ लेकर मोहनबाग़ को रवाना हुई । परन्तु वहाँ जाकर देखा तो उसकी आँखें खुल गई । श्यामलाल प्रेम के मद में मतवाले हुए सौन्दर्य की पूजा में लीन थे । रूपवती के कलेजे में मानो किसी ने बर्छी उतार दी । उलटे पाओं वापस आई, और चारपाई पर लेट गई ।

(३)

रूपवती हँसती भी थी और रोती भी थी । हँसती इसलिए थी कि श्यामलाल दिखावे के झूठे प्रेम पर लट्टू थे, परन्तु सच्चे प्रेम से नितान्त अनभिज्ञ । जिस प्रकार अबोध बालक छाछ को दूध से अच्छा कहकर समझता है कि मैंने

बुद्धिमत्ता का काम किया, इसी प्रकार श्यामलाल ने रूपवती के सच्चे प्रेम के रहस्य को न पाकर झूठे प्रेम की बातों में मन लगाया। रोती इसलिए थी, कि मैंने अपना सर्वस्व लुटा दिया, परन्तु होश तब आया जब घर खाली हो गया। पति की यह अवस्था देखकर उसका मन टूट गया, और वह ऐसी बीमार हुई कि बचने की आशा न रही। तथापि उसे चिन्ता न थी, क्योंकि अब वह मरने में ही शांति ढूँढ़ती थी और जीवन का एक एक क्षण उसे दूभर प्रतीत होता था।

एक दिन रात के समय श्यामलाल सोये हुए थे कि झटके के शब्द से बिजली का पङ्खा बन्द हो गया। रूपवती जाग रही थी, उसमें उठने की शक्ति न थी। परन्तु स्वामी की निद्रा में बाधा न पड़े, इस विचार से जैसे तैसे उठी, और ताड़ का पङ्खा लेकर श्यामलाल को झलने लगी। इससे श्यामलाल की आँख खुल गई, परन्तु वे चुपचाप पड़े रहे। रूपवती अपने निर्बल हाथों से पंखा झलती रही, बहुत देर तक झलती रही।

सहसा श्यामलाल के गाल पर जल के बिन्दु गिरे। उन्होंने चौंककर आँखें खोल दीं, और रूपवती का हाथ पकड़ लिया—अधीर होकर बोले :—

"रूपवती ! रूपवती !! रोती क्यों हो ?"

रूपवती के हृदय को प्रेम की इस बेपर्दगी पर आघात पहुँचा। साथ ही यह विचार भी आया कि जीवन के अधिक दिन शेष नहीं हैं। सिर झुकाकर बोली "अपने भाग्य को।"

"बेवकूफ़ हो, तुम बच जाओगी।"

"यह असम्भव है।"

"क्यों ?"

"जीने की इच्छा ही नहीं।"

श्यामलाल के शरीर से पसीना छूटने लगा। अपने कुकर्म्म नेत्रों के सामने आ गये, तो भी साहस करके बोले "तुम्हें यह क्या हो गया है ?"

रूपवती बैठी थी, तनकर खड़ी हो गई और कहने लगी। "मैं भारतीय स्त्री हूँ। भारतीय स्त्री पति के लिए अपना सब कुछ छोड़ सकती है, परन्तु पति को किसी मूल्य पर भी देना स्वीकार नहीं कर सकती। जब तक तुम मेरे थे, मेरा जीवन दूध और मिसिरी की धार थी, पर तुमने उसमें विष मिला दिया है।

उसे मैंने आज तक छिपाये रखा है, परन्तु अब छिपाने की आवश्यकता नहीं। मेरे अभिमान तुम हो। जब तुम ही छिन गये तो अभिमान कैसा? और जब अभिमान न रहे, तो जीवन किस काम का, परमात्मा अब तो उठा ले, यही प्रार्थना है।"

श्यामलाल के कलेजे में किसी ने घूँसा मार दिया। घुटने टेककर बोले :—

"मैं तुम्हारे प्रति उपेक्षा करने का अपराधी हूँ, पर अब यह बात न होगी। एक बार क्षमा कर दो।"

इस समय श्यामलाल के मुखमण्डल पर निर्दोषिता का रङ्ग झलक रहा था, इसलिए रूपवती को बहुत प्यारे मालूम हुए। उसने चाहा कि मौन रहूँ, परन्तु न रह सकी। काँपते हुए हाथ बढ़ाकर बोली "प्यारे..........."

इस एक शब्द में प्रेम की पूर्ण कहानी छिपी थी। श्यामलाल पर जादू हो गया। यही वस्तु थी, जिसके लिए वे दिन-रात तड़पते थे, और यही वस्तु थी, जो उन्हें प्राप्त न होती थी। प्रेम से अधीर होकर उन्होंने रूपवती को गले से लगा लिया। इससे पहले ऐसे अवसरों पर रूपवती सिर झुका लेती थी, परन्तु आज उसने प्रेम के टूटे-फूटे वाक्यों से उनकी चिरकालिक कामनाओं को पूरा कर दिया। श्यामलाल स्वर्गसुख में लीन हो गये।

रूपवती ने समझा अब अवस्था बदल गई है, बच रहूँ तो अच्छा है। श्यामलाल ने सोचा, ऐसी स्त्री संसार में न मिलेगी, मर गई तो क्या होगा। इस विचार से वे उसकी चिकित्सा अधिक ध्यान से करने लगे। रूपवती स्वस्थ होने लगी, परन्तु मनुष्य कुछ सोचता है, परमात्मा कुछ करता है। रूपवती दिन पर दिन चंगी हो रही थी, कि भाग्य ने फिर पाँसा पलट दिया।

साँझ का समय था। रूपवती चारपाई पर बैठी सब्ज़ी कतर रही थी कि नौकर ने डाक लाकर मेज़ पर रख दी। इसमें से एक पत्र के ऊपर हस्ताक्षर किसी स्त्री के से थे। रूपवती को कुछ सन्देह हुआ। उसने सब्ज़ी छोड़कर पत्र खोला, सन्देह निश्चय के रूप में बदल गया। श्यामलाल का हृदय डोल चुका था; यह उसका प्रबल प्रमाण था।

श्यामलाल घर वापस आये तो रूपवती के मुख पर मुर्दनी छाई हुई थी। उन्होंने बहुत चाहा कि कारण पूछें परन्तु रूपवती ने कोई उत्तर न दिया।

अर्धरात्रि तक मनाने का प्रयत्न करते रहे। परन्तु रूपवती ने सुना अनसुना अपनी दिया। अन्त में वे थककर सो गये, परन्तु एक बजे के लगभग नौकर ने जगाकर कहा "बीबीजी की अवस्था बहुत बिगड़ी हुई है, देख लीजिए।"

श्यामलाल घबराकर उठे और आँखें मलते मलते बोले "क्या है?"

"दशा अच्छी नहीं।"

श्यामलाल ने पत्नी को झुककर देखा तो खून जम गया। घबराकर बोले—"रूपवती! क्यों, क्या है, डाक्टर बुलाऊँ?"

रूपवती की अवस्था बहुत ही बिगड़ रही थी, रुक-रुककर बोली "अब समय नहीं है।"

"अब समय नहीं है, क्यों?"

रूपवती ने इशारे से नौकर को बाहर भेज दिया, और बोली "मैंने विष खा लिया है।"

श्यामलाल की आँखें खुली रह गईं, चकित से होकर बोले "यह क्यों?"

"मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती।"

श्यामलाल कुछ और न पूछ सके। पापी के पाप काँपते हैं। रूपवती ने कहा "एक प्रार्थना है।"

श्यामलाल ने भर्राये हुए स्वर में उत्तर दिया "जी चाहता है, छत से कूद-कर जान दे दूँ।"

"नहीं, अन्तिम बार मुझे प्यार कर लो, तुम्हें प्यार करती हुई मरूँ, यही मेरी मनोकामना है।"

श्यामलाल ढाढ़ें मार-मारकर रोने लगे। रूपवती ने कहा "अब रोने से क्या होगा होश करो।"

श्यामलाल ने उस खाँड के खिलौने को प्यार किया। रूपवती ने भींच-भींचकर श्यामलाल को गले लगाया और थककर बोली, "अब शरीर में आग लग गई है। विष ने अपना असर आरम्भ किया।"

श्यामलाल चुपचाप बैठे रहे, परन्तु उनकी आँखों में आँसू भरे थे। रूपवती उनकी गोद में सिर रखे हुए चल बसी।

श्यामलाल मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। वह उसे बीमार देखकर सँभले रहे थे, पर मरे हुए देखकर उनका धीरज जाता रहा।

(४)

कहते हैं किसी चीज़ के मूल्य का उस समय पता लगता है, जब वह पास न रहे। रूपवती जब तक जीती थी श्यामलाल की दृष्टि में उसका कुछ मूल्य न था। मगर जब वह मर गई तो उसके गुण याद आने लगे। श्यामलाल ने रूपवती को खोकर उसका मूल्य जाना। इतना ही नहीं उनको उससे भी—जिसके कारण रूपवती ने अपना जीवन अपने पति पर निछावर कर दिया था, घृणा हो गई। यहाँ तक कि उसका मुँह तक भी न देखते थे। जिस प्रकार मनुष्य अत्यधिक मिठाई खाने के कारण रोगी हो जाता है और इससे नाक मुँह चढ़ाने लगता है, इसी प्रकार श्यामलाल श्यामा से घृणा करने लगे। यद्यपि इसमें उसका रत्ती भर भी दोष न था।

परन्तु उनकी यह अवस्था अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। ज्यों ज्यों समय गुज़रता गया, रूपवती की स्मृति पुरानी होती गई। श्यामलाल की प्रवृत्ति श्यामा की ओर झुकने लगी। उसके माता-पिता ने यह हाल देखा तो फूले न समाये और वर्ष से पहले-पहल उनके साथ श्यामा का विवाह कर दिया।

(५)

उपरोक्त घटना को दो वर्ष बीत चुके थे। वही सावन के दिन थे। प्रकृति हरे रंग का लिबास पहरे विलास कर रही थी। आकाश पर बादल मँडला रहे थे। पृथ्वी पर नदियाँ दौड़ती थीं। यह वही ऋतु है, जब सौंदर्य निखरता है और प्रेम का देवता पुष्पों के बाण छोड़ता है। जब विरहिणी के हृदय में हूक उठती है और वह परदेसी पिया की याद में बीमारी का बहाना करती है। जब भामिनी चंदन के पटड़े पर झूलना झूलती है और प्रेमी जन मल्हार का तराना छेड़ते हैं। जब कवि के हृदय का स्रोत खुलता है और चित्रकार की लेखनी किसी रंगीन दृश्य के लिए अधीर होती है।

ऐसी प्यारी प्यारी ऋतु ख़ाली कैसे छोड़ी जा सकती थी, श्यामलाल अपनी नवीना स्त्री श्यामा के पास गये और बोले—

"श्यामा ! झूला डलवाऊँ, बाग़ चलोगी !"

श्याम ने मुस्कराकर उत्तर दिया "वहाँ क्या है ?"

"सावन के दिनों में बाग़ में सौन्दर्य खिलता है, मैं प्रेम का पुजारी हूँ। वहाँ जाये बिना मन नहीं मानता।"

श्यामा ने श्यामलाल की ओर कनखियों से देखते हुए कहा "तुम प्रेम किस को करते हो।"

"सारे संसार में केवल तुम्हें।"

श्यामा ज़ोर से हँसी और हँसकर बोली 'झूठ'।

ठीक उसी समय दीवार से एक चित्र गिरा और उसका चौखटा और शीशा दोनों टूट गये। उसके बाहर मेनका और विश्वामित्र का चित्र था, परन्तु पीछे रूपवती का चित्र था। इसे श्यामलाल ने सावधानी से छिपा रखा था कि श्यामा की उस पर दृष्टि न पड़ जाय। श्यामलाल को उसे देखते ही वह दिन याद आ गया जब यही शब्द उसने रूपवती से कहे थे। सोचने लगे, मेरा प्रेम कैसा ओछा है। वह हार्दिक भाव से मुझे चाहती थी, परन्तु मैंने उसका ख्याल न किया। मैं शब्दों में प्रेम को ढूढ़ता था, परन्तु वह इससे कितनी ऊँची थी। दो चार दस मिनट बीत गये। श्यामलाल चित्र की ओर टकटकी लगाकर देखते रहे और तब धीरे से बोले "मैं प्रेम का पापी हूँ।"

श्यामा ने यह देखा तो डर गई और आगे बढ़कर कहने लगी 'क्यों ? क्या हुआ है, कुशल तो है ?'

परन्तु श्यामलाल इस संसार में न थे। पागलों की नाईं बोले—

"मैं प्रेम का पापी हूँ।"

"क्या कह रहे हो ?"

"मैं प्रेम का पापी हूँ।"

श्यामा ने डाक्टर बुलवाये परन्तु कुछ लाभ न हुआ। श्यामलाल की दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई। अंत में एक दिन जब श्यामा उनकी शय्या के

पास सो रही थी तो श्यामलाल ने हँसकर कहा "रूपवती तू आ गई, तुझे मेरा इतना क्यों ख़्याल है। मैं तो प्रेम का पापी हूँ।"

श्यामा चौंक उठी। उसने घबराकर श्यामलाल की नाड़ी पर हाथ रखा। वह बहुत धीमी थी। पाँव टटोले, वह ठण्डे थे। उसने सिर पीट लिया। परन्तु श्यामलाल का रोग रोग न था, मृत्यु का सन्देशा था। उसी रात को प्रेम का पापी अनन्त प्रेम के पुण्यस्थल को प्रयाण कर गया। पर कहते हैं, उस मकान से अब तक आवाज़ आती है "मैं प्रेम का पापी हूँ।"

२१ अगस्त १९०३

(१)

मिनर्वा लाज जेहलम

२ जून १९०३

माई डियर लालचंद !

कब तक लौटोगे ? मेरा जी तो अभी से घबराने लगा। जब तक तुम यहाँ थे तब तक मैं तुम्हें न समझ सका था। परन्तु अब पता लगा कि तुम्हारे और हरदयाल के बिना जीवन नीरस हो गया है, जैसे निमक-मिर्च के बिना भाजी बेस्वाद हो जाती है। अब न सवेरे घूमने का आनन्द आता है, न साँझ को बोटिङ्ग का। सारा दिन चित्त उदास रहता है, जैसे कोई क़ीमती वस्तु गुम हो गई हो। पता नहीं यह लम्बा समय कैसे बीतेगा। मेरी मानो तो जल्द वापस आ जाओ, फिर कभी अवकाश के समय चलेंगे। अब इस समय अकेले में तुम्हें कराची की सैर का क्या आनन्द आता होगा।

एक समाचार लिखता हूँ। निस्सन्देह पढ़कर आनन्द से उछल पड़ोगे। राय साहब हीरालाल के यहाँ मेरी सगाई हो गई है। २१ अगस्त को ब्याह हो जायगा। सम्भव है तुम्हें इसका विश्वास ही न आवे। और मैं स्वयं समझता था कि ऐसा होना असम्भव है। तुम्हें स्मरण होगा, हमारे बी० ए० के कोर्स में जो संस्कृत का नाटक पढ़ाया जाता था, उसमें एक स्थल पर विदूषक कहता है कि मैं प्रायः यही सोचता रहता हूँ कि आकाश का चन्द्रमा मुझे किस प्रकार

मिल सकता है ? ठीक यही अवस्था मेरी है। वरन मेरे लिए कौशल्या चन्द्रमा से भी बढ़कर है। मैंने उसे एक-दो ही बार देखा है, परन्तु मूर्ति हृदयपट पर अङ्कित हो गई है। वह ऐसी सुन्दर और लजीली है कि देखकर आँखें प्रसन्न हो जाती हैं। और इतना ही नहीं पढ़ी-लिखी है। आज सारे जेहलम में उसके जोड़ की पढ़ी-लिखी कोई लड़की नहीं। मैं कब सोच सकता था कि मेरा भी ऐसा सौभाग्य होगा। सारा शहर इस पर विस्मित हो रहा है। सुना करते थे कि परमात्मा जब देने पर आता है, तब छप्पर फाड़कर देता है। अब इस पर विश्वास हो गया।

मैं राय साहब से मिला था, मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मैंने साफ़ साफ़ कह दिया कि मैं बहुत ही निर्धन हूँ। इस सम्बन्ध के योग्य नहीं। परन्तु उन्होंने केवल एक बार सिर हिला दिया। फिर बोले, तुम इस बात की कुछ भी चिन्ता न करो कि तुम्हारे पास रुपया नहीं है। मैं तुम्हारी योग्यता और भल-मन्सी पर लट्टू हूँ। और मुझे पूरा भरोसा है कि तुम कौशल्या को प्रसन्न रख सकोगे। उन्होंने इशारे से यह भी कह दिया कि मैं अब तुम्हें वकालत न करने दूँगा। ब्याह के पश्चात् कोई व्यापार आरम्भ कर दो। लाला धनपतराय वकील को उन्होंने मेरी ओर से प्रबन्ध करने के लिए कहा है। सुना है, उनको कुछ रुपया भी दिया है। तुम जानते हो, मेरे माता-पिता तो कोई हैं ही नहीं, जो प्रबन्ध करें।

मैं चाहता हूँ कि तुम पत्र देखते ही जेहलम पहुँच जाओ। क्या समुद्र की सैर मेरी बातचीत से अधिक सुख देनेवाली है ?

तुम्हारा शुभचिन्तक—
किशोरचन्द।

(२)

बन्दर रोड, कराची
६ जून १९०३

ज्योतिषीजी महाराज !

प्रणाम ! रात को लालचन्द के नाम आया हुआ किशोरचन्द का पत्र देख-कर तन-मन को आग-सी लग गई। राय साहब की बुद्धि पर क्या पर्दा पड़

गया, जो किशोरचन्द के साथ अपनी लड़की का ब्याह करने को तैयार हो गये। इतना तो आप जानते ही हैं कि वे कौशल्या के लिए लड़का बहुत देर से खोज रहे हैं। परन्तु अन्त में दो लड़कों को उन्होंने चुना, जिनमें से एक मैं और दूसरा किशोरचन्द है। किशोरचन्द इस बात को जानता तक न था, परन्तु मैं प्रायः टोह लेता रहता था। पिछले सप्ताह तक यही आशा थी कि इस दौड़ में जीत मेरी रहेगी। परन्तु अब एकाएक भाग्य ने पाँसा पलट दिया, और किशोरचन्द ने इस मैदान में भी मुझे हरा दिया। मैं स्कूल और कालेज में सदैव उससे दबता था, परन्तु यह पता न था कि प्रेम की परीक्षा में भी वह मुझसे आगे निकल जायगा। तथापि मैं इस पराजय को सहज ही में स्वीकार नहीं करूँगा। मैं इसके लिए अन्तिम श्वास तक लड़ूँगा।

किशोरचन्द का पत्र पढ़कर मुझे ऐसा दुःख हुआ है जैसे किसी के सारे जीवन की कमाई लुट गई हो। सारी रात नींद नहीं आई। अब आप ही का भरोसा है। यदि कुछ करें तो आशा हो सकती है, नहीं तो चारों ओर अथाह अन्धकार है। मैं आपसे केवल यही चाहता हूँ कि किशोरचन्द जब आपसे मिलने आये तो उससे कह दें, कि २१ अगस्त बहुत ही बुरा दिन है। उस दिन विवाह न होना चाहिए। किशोरचन्द वहमी मनुष्य है। राय साहब से अवश्य कहेगा कि इस तारीख़ पर विवाह नहीं होना चाहिए। राय साहब स्वतन्त्र विचार के मनुष्य हैं। वे इस बात की कभी परवा नहीं करेंगे। इससे आगे जो कुछ होगा, मैं समझ लूँगा।

सौ रुपये का नोट आपकी भेंट भेजता हूँ, स्वीकार कीजिएगा।

आपका दास—

हरदयाल।

(२)

मिनर्वा लाज, जेहलम

१६ जून १९०३

भाई प्रियवर हरदयाल!

मैं बहुत कठिनाई में पड़ गया हूँ। राय साहब ने ब्याह की तारीख़ २१

अगस्त नियत की है। परन्तु ज्योतिषी हरदत्तसिंहजी कहते हैं कि यह दिन बड़ा अशुभ है। और यदि इस दिन ब्याह हो गया तो तुममें से किसी को भी सुख प्राप्त न होगा। मैंने बहुत प्रयत्न किया है कि राय साहब इस तारीख़ को बदल दें। परन्तु वे किसी प्रकार भी नहीं मानते। आज़ाद ख़याल के आदमी हैं, वे इस बात की क्या परवा करते हैं कि मेरे हृदय पर ज्योतिषी की बातों का क्या प्रभाव हुआ है। यदि उनसे कह दूँ कि मेरी शङ्का का कारण ज्योतिषी की भविष्य-वाणी है तो निस्सन्देह उनका प्रेम घृणा में बदल जायगा। तुम्हारा विचार सत्य है कि अब राय साहब को मुट्ठी में करने का एक ही उपाय है कि मैं प्रत्येक काम उन्हीं के इच्छानुसार करूँ। परन्तु यह कैसे हो सकता है। उनकी इच्छा है कि ब्याह २१ अगस्त को अवश्य हो जाय। परन्तु मेरे कान में कोई कह रहा है कि यदि उस दिन ब्याह हो गया तो मेरे लिए यह भारी सङ्कट होगा और कौशल्या की भी कुशल न होगी। अब तुम्हीं बताओ कि मैं क्या करूँ। मुझे तो ख़याल भी न था कि इस विवाह में कोई विघ्न आ पड़ेगा। परन्तु अब पता लगा कि यह मेरी भूल थी। तुम जानते हो, फूल तक पहुँचने के लिए काँटों में हाथ डालना ही पड़ता है। प्रकृति के नियम का विरोध करने की किसमें सामर्थ्य है?

अब लिखो, कब तक वापस आओगे। तुम्हारे और लालचन्द के बिना जीवन दूभर हो गया है। लालचन्द ने मुझे लिखा है कि वह अभी तीन-चार मास तक न आ सकेगा। क्या यह हँसी तो नहीं? तुम तो शीघ्र लौट सकोगे न? जिस प्रकार हो सके, तुम्हें शीघ्र ही यहाँ पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। तुम्हारे यहाँ आ जाने से मेरी चिन्ता आधी रह जायगी और हर्ष दुगुना हो जायगा। मेरे पत्र का उत्तर वापसी डाक से दो कि कब तक आ सकोगे। मिस्टर लालचन्द से मेरा नमस्ते कहना और यह पत्र उन्हें दिखा देना। और सब प्रकार से कुशल है।

तुम्हारा शुभचिन्तक—

किशोरचन्द।

(४)

टैम्पल रोड, लाहौर

८ जुलाई १९०३

चिरञ्जीव हरदयाल ! परमात्मा तुम्हें प्रसन्न रखे !

पत्र तुम्हारा मिला, पढ़कर आश्चर्य हुआ और आँखों के सामने से पर्दा सा हट गया। मुझे स्वप्न में भी यह विचार न था कि किशोरचन्द में ये गुण भी होंगे। तुम जानते हो, चेहरे-मोहरे से तो वह ऐसा भलामानस और भोलाभाला प्रतीत होता है, मानों मुँह में दाँत ही नहीं। मुझसे कई बार मिला है, परन्तु हर बार मुझ पर नया प्रभाव छोड़कर गया है। तुम जानते हो, मैं तो अपने भाग्य को सराह रहा था कि ऐसा सच्चरित्र और भलामानस लड़का हाथ आ गया। परन्तु तुम्हारे पत्र से पता लगा कि वह कितना भयानक मनुष्य है। तुम लिखते हो कि यह सूचना मित्रता के नियम के विरुद्ध है। बेटा ! संसार में मित्रता से बढ़कर भी एक वस्तु है। और वह वस्तु सचाई है, जिसे किसी समय और किसी अवस्था में हाथ से न जाने देना चाहिए। तुमने यह सूचना देकर मुझ पर ऐसा उपकार किया है जिसका बदला मैं किसी प्रकार भी नहीं दे सकता। तुमने मेरी लड़की का जीवन बचा लिया है। तुम जानते हो, मैंने उसे कैसे लाड़-प्यार के साथ पाला है। तो क्या अब उसकी हत्या होती देखकर तुम्हें कष्ट न होता ?

अब मैं तुमसे एक बात खोलकर कह देना चाहता हूँ। तुम जानते हो, मेरे पास रुपये की कमी नहीं। मैं तो केवल सच्चरित्र लड़का चाहता हूँ, जिसके साथ मेरी लड़की का जीवन सुख से कट जाय। जेहलम में लड़कों की कमी नहीं। परन्तु मैंने केवल दो लड़कों को पसन्द किया था। यदि इसमें कुछ दोष है तो मैं बेटी का ब्याह दूसरे के साथ कर दूँगा। वह दूसरा लड़का कौन है ? यह तो तुम भले प्रकार जानते होगे। मेरा तात्पर्य्य तुम्हीं से है।

निश्चिन्त रहो। तुम्हारे पत्र का पता किशोरचन्द को नहीं होगा। मैं उससे कोई बात भी नहीं कहूँगा। इसकी आवश्यकता ही क्या है ? यदि २१ अगस्त का ब्याह वह नहीं मानता और इसे अस्वीकार करने का समुचित कारण नहीं बतलाता तो स्पष्ट बात है कि कारण ऐसा है, जो कहने के योग्य नहीं।

तुम जानते हो, मेरे स्वतन्त्र विचारों के कारण मेरी बहुत निन्दा हो चुकी है। अब इस आयु में थोड़ा सा बुरा-भला और सुन लूँगा। बहुत हुआ सम्बन्धी लोग दो-चार-दिन गुन गुन करते रहेंगे। कर लें। मेरा इससे क्या बिगड़ जायगा। परन्तु कौशल्या इसे सुनकर बहुत व्याकुल हुई है। वह कहती है, मैं अब किसी दूसरे पुरुष से ब्याह न करूँगी। परन्तु तुम जानते हो कि मैं उसकी रत्ती भर भी परवा नहीं करूँगा, और उसकी एक दो-दिन की प्रसन्नता के लिए उसका सारा जीवन नष्ट न होने दूँगा। मैं तुम्हारे पिता से मिल चुका हूँ। वह इस नाते को स्वीकार करते हैं। अब तुमको उचित है कि १० अगस्त तक जेहलम पहुँच जाओ। मैं आवश्यक काम से यहाँ आया था। कल जेहलम चला जाऊँगा। तुम्हारा उत्तर वहीं आना चाहिए।

हितचिन्तक—,

हीरालाल।

(५)

मिनर्वा लाज, जेहलम

२५ जुलाई १९०३ ई०

भाई डियर हरदयाल!

काम बिगड़ रहा है। राय साहब का स्वभाव बहुत कुछ बदल गया है। पहले मुझे देखकर आनन्द से उछल पड़ते थे, परन्तु अब जाता हूँ तो मुँह फेर लेते हैं, जैसे मुझसे अप्रसन्न हों। पता नहीं, इस अप्रसन्नता का कारण क्या है। कल मैंने उनसे साफ़ साफ़ कह दिया है कि २१ अगस्त को ब्याह कभी नहीं हो सकेगा। इसे सुनकर उनका चेहरा इस प्रकार तमतमा उठा जैसे गर्म किया हुआ ताँबा हो। कुछ देर चुप रहे। फिर एकाएक कुर्सी से उठ खड़े हुए और यह कहते कहते कमरे से निकल गये कि यदि २१ अगस्त को ब्याह नहीं हो सकता तो फिर किसी और तारीख़ पर भी नहीं हो सकता, मेरी ओर से जवाब समझो। इस जवाब से मुझ पर मानो वज्रपात हुआ। मैं पत्थर की मूर्ति के समान वहीं बैठा रह गया। नौकर से पूछा, तो पता लगा कि राय साहब बाहर चले गये हैं। हरदयाल! तुम्हीं बतलाओ इसका क्या तात्पर्य्य हो सकता है। मैं निर्धन हूँ, परन्तु निर्लज्ज नहीं हूँ। चोट खाये हुए सर्प की

नाई उठ खड़ा हुआ, और वापस चलने को था कि एकाएक चिक उठी और कौशल्या कमरे में आ गई। मेरा कलेजा धड़कने लगा। पाँवों में बेड़ी पड़ गई। सोचता था कि यदि कोई देख ले तो क्या कहे। सारे शहर में मिट्टी उड़ने लगेगी। मेरे मस्तक से पसीना टपकने लगा। परन्तु कौशल्या ने अपनी मीठी वाणी में कहा, "क्षमा कीजिए। मुझे यह निर्लज्जता शोभा नहीं देती। परन्तु मेरा आपसे मिलना आवश्यक था।" मैंने अपने हृदय की सारी शक्ति लगा दी परन्तु सौन्दर्य्य के तेज ने मुँह न खोलने दिया। हठात् भूमि की ओर देखने लगा, यद्यपि मेरे जीवन की समस्त आशाएँ उसके चेहरे पर जमी हुई थीं।

कौशल्या ने पूछा, "पिताजी आपसे नाराज़ हैं क्या ?"

यह कहते समय उसके होंठ काँप रहे थे, जैसे सितार के तार थरथरा रहे हों।

मैंने यत्न करके उत्तर दिया, "हाँ! ऐसा ही जान पड़ता है।"

"परन्तु क्यों ?"

"इसका कारण अभी तक मैं नहीं समझ सका।"

"आपके विरुद्ध एक पत्र आया है।"

मेरा श्वास होठों तक आ गया। समझा कि रहस्य खुल गया। अधीर होकर बोला, "किसने लिखा है ?"

"कौशल्या ने उत्तर दिया, 'यह मुझे भी पता नहीं।"

"क्या लिखा है ?"

"मैं यह भी नहीं जानती। परन्तु जिस दिन से पत्र आया है, उसी दिन से पिताजी बावले से हो रहे हैं। दिन भर आपके विरुद्ध बोलते रहते हैं। कहते थे यह ब्याह नहीं हो सकेगा, परन्तु मैंने साफ़ साफ़ कह दिया है कि मैं किसी और से ब्याह न करूँगी।"

यह कहते कहते उसकी आँखें नीचे झुक गईं और मुँह अनार के दाने की तरह लाल हो गया। मेरे हर्ष की कोई थाह न थी, जैसे कुबेर का ऐश्वर्य मिल गया हो। सहसा मैंने पूछा, "परन्तु पत्र में क्या लिखा है ?",

कौशल्या ने इसका कोई उत्तर न दिया। प्रत्युत प्रश्न के उत्तर में मुझसे

प्रश्न कर दिया, "खुरशीद बेगम कौन है ? क्या आप उसे जानते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं किसी खुरशीद बेगम को नहीं जानता।"

कौशल्या मेरी ओर इस प्रकार देख रही थी, जैसे कोई अनुभवी पुलिस का अफ़सर किसी चोर डाकू की ओर देख रहा हो, और देखने ही देखने में उसके आचार का अनुमान कर रहा हो। मुझ पर उसका अत्यधिक प्रभाव हुआ। चित्त भयभीत सा हो गया। मैं सोच रहा था कि इस प्रश्न का अभिप्राय क्या हो सकता है कि इतने में कौशल्या ने दूसरा प्रश्न कर दिया, "२१ अगस्त के दिन आपको क्या काम है ?"

मैंने उत्तर दिया, "कोई काम नहीं।"

"कोई काम नहीं ?"

"हाँ, कोई काम नहीं।"

"तो आप उस दिन कहाँ होंगे ?"

"यहीं जेहलम में।"

कौशल्या ने कुछ घबराहट से पूछा, "जेहलम में। परन्तु कहाँ ?"

"घर पर।"

"तो उस दिन आपको आपत्ति क्या है ?"

"आपत्ति है।"

"परन्तु क्या ? क्या आप मुझे भी नहीं बता सकते ?"

मैं कुछ देर चुप रहा। मेरा चुप रहना कौशल्या के लिए असह्य था। उसने अपनी आँखें फिर मेरे चेहरे पर गाड़ दीं, और मेरे अन्तःकरण के अन्दर की बात जानने का प्रयत्न करने लगी। हरदयाल ! उस समय उसका मुख ऐसा प्यारा लगता था, उस पर ऐसी सुन्दरता छाई हुई थी कि मैं मतवाला हो गया। क्या तुमने कभी चकोर देखा है ? चन्द्रमा को देखकर जो दशा उसकी होती है, वही दशा उस समय मेरी थी। सोचता था, मैं कैसा भाग्यवान् हूँ। परन्तु सहसा विचार आया कि पता नहीं इस स्वप्न का फल क्या हो ? प्रसन्नता पर पानी फिर गया। कौशल्या ने फिर पूछा, "आप क्या सोच रहे हैं ?

मैंने लज्जित होकर उत्तर दिया, "कुछ नहीं, आप ही के प्रश्न पर विचार कर रहा था।"

"तो बतलाइए न, आपको क्या आपत्ति है ?"

मेरे मन में विचार आया कि कौशल्या से कह दूँ कि ज्योतिषी ने कहा है कि वह दिन ब्याह के लिए अच्छा नहीं। परन्तु फिर तुम्हारे पत्र ने मुँह बन्द कर दिया। सोचता था कि यह लड़की भी मेरे वहम पर हँसेगी। मैं चुप रहा, और थोड़ी देर बाद बोला, "मैं नहीं बता सकता।"

कौशल्या को जान पड़ता है कि इस उत्तर से बहुत दुःख हुआ। उदास-सी होकर बोली, "मुझे भी नहीं बता सकते ?"

"इस समय तुम्हें भी नहीं बता सकता, परन्तु कुछ दिन ठहरकर बता सकूँगा। उस समय तुम हँसोगी।"

कौशल्या ने लम्बी साँस ली और कहा, "अच्छा न बताओ। परन्तु एक बात स्मरण रखना। उस दिन कहीं घर से बाहर न निकलना।"

मैंने उत्तर दिया, "बहुत अच्छा।"

अब सोच रहा हूँ, न जाने प्रारब्ध में क्या लिखा है। जब तक इस सम्बन्ध की बातचीत न हुई थी उस समय तक मेरा कौशल्या की ओर ध्यान भी न था। परन्तु अब तो उसी की लगन लगी रहती है और मुझे कभी-कभी तो यहाँ तक ख़याल आता है कि मैं उसके बिना रह न सकूँगा। क्या तुम जानते हो कि ब्याह के पहले पत्नी से भेंट करने में क्या आनन्द है। यहाँ आओगे तो बताऊँगा। ऐसे सूक्ष्म भावों के वर्णन करने की शक्ति लेखनी में नहीं। तुम्हारे पिता से पता लगा कि तुम पहली दिसम्बर तक आ सकोगे। क्या इससे पहले नहीं आ सकते और लालचन्द को भी साथ नहीं ला सकते। यह पत्र उसे भी दिखा देना। और सोच-समझकर लिखना कि मुझे क्या करना चाहिए ?

तुम्हारा शुभचिन्तक—
किशोरचन्द।

(६)

बन्दर रोड, कराची
१० अगस्त १९०३

प्यारे किशोरचन्द !

आज हरदयाल यहाँ से चला गया है। जब से उसे गाड़ी पर चढ़ाकर आया हूँ तभी से जी उदास हो रहा है। जन्म-भूमि से कितनी दूर समुद्र के किनारे

पड़ा हूँ, और कोई मित्र पास नहीं। जी चाहता है, पर मिल जायँ तो उड़कर तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ। परन्तु क्या करूँ, विवश हूँ। काम-काज ने रस्ता रोक रखा है। तुम्हारे पत्र स्वयं तुमसे अधिक रस-भरे हैं। उनके पढ़ने से तुम्हारी सङ्गति का मज़ा आ जाता है। अब तो सौ बिस्वे राय साहब की अप्रसन्नता दूर हो गई होगी। और तुमने मेरे ८ अगस्त के पत्र के अनुसार राय साहब से साफ़ साफ़ कह दिया होगा कि ज्योतिषी ने २१ अगस्त का दिन अशुभ बताया है और यही कारण है कि मैं उस तारीख़ पर ब्याह का विरोध कर रहा हूँ। मेरे विचार में जो बात होनी चाहिए, साफ़ साफ़ होनी चाहिए। ऐसी साधारण बातों को छिपाकर रखना कभी कभी बड़ा भयानक हो जाता है। यही होगा न कि वह तुम्हें पुराने विचारों का सिड़ी समझेंगे, समझें। परन्तु उनको यह तो पता लग जायगा कि तुम अपनी और उनकी बेटी ही की भलाई के लिए यह सब कुछ कर रहे हो। आशा है, वे इससे नाराज़ न होंगे। उनकी नाराज़गी का कारण मेरे विचार में तुम्हारा २१ अगस्त को अस्वीकार करना और उसका कारण न बताना है।

अब वास्तविक बात को वे जान लेंगे तब यह अप्रसन्नता दूर हो जायगी। वापसी डाक से पता दो कि अब परिस्थिति कैसी है, और तुम दूल्हा कब बनते हो। मैं कैसा अभागा हूँ कि इस मङ्गल-समय में भी तुम्हारे पास नहीं आ सकता। तो भी विश्वास रखो, मेरा हृदय तुम्हारे पास है, और तुम्हारे कल्याण के लिए प्रार्थना कर रहा है। मेरी ओर से अग्रिम धन्यवाद स्वीकार करो।

तुम्हारा भाई
लालचन्द

(७)

मिनर्वा लाज, जेहलम
२५ अगस्त, १९०२

भाई डियर लालचन्द !

यहाँ जो भयानक नाटक हो रहा था वह हो गया, और अब मैं इस योग्य हूँ, कि तुमको सारी घटनाएँ क्रमशः लिख दूँ। इससे तुम्हें उपन्यास का आनन्द आयेगा। पत्र तनिक लम्बा है, परन्तु है अधिक मनोहर।

भाई, पहले तो आज मैं यह लिखना चाहता हूँ कि एक या किसी दूसरे कारण से मुझे तुम्हारा कराची से केवल एक ही पत्र मिला है, यद्यपि तुम्हारे १० तारीख के पत्र से ज्ञात पड़ता है कि तुमने इससे पहले ८ तारीख को भी मुझे कोई पत्र लिखा है। तुम्हारा वह पत्र मुझे क्यों नहीं मिला, इसका कारण कदाचित् यही है कि वह पत्र हरदयाल ने डाक में छोड़ने से पहले ही उड़ा लिया है।

अब २१ अगस्त की कहानी सुनो।

उस दिन मैं बहुत बेचैन था। कभी अन्दर जाता, कभी बाहर आता; परन्तु हृदय को शान्ति न थी। ऐसा प्रतीत होता था कि मुझ पर कोई विपत्ति आनेवाली है। बार बार सोचता था कि क्या यह दिन कुशल से बीत जायगा? कौशल्या के कथनानुसार मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं उस दिन घर से बाहर न निकलूँगा। परन्तु जो होना हो, उसे कौन टाल सकता है। लगभग दो बजे मैं आफिस में बैठा ला की पुस्तकें उलट-पलट रहा था कि चिक उठी और हरदयाल अन्दर आया। इस समय उसका मुख फूल से बढ़कर खिला हुआ था। आते ही बोला, राम साहब से मिलकर आ रहा हूँ, उनसे मैंने सारी बात कर दी है। कहते हैं यदि यह बात पहले से मुझे बता दी जाती तो मैं कदाचित् असमंजस में न होता। अब अगले सप्ताह में ब्याह का निश्चय हुआ है। यह सुनकर मेरी जो दशा हुई होगी, उसे तुम जान सकते हो। आनन्द से मतवाला हो गया, और कमरे में टहलने लगा। परन्तु हरदयाल आराम से कुर्सी पर लेटा हुआ मेरी ओर देख रहा था। मैं समझता था कि वह मेरे भावों की प्रसन्नता को देखकर प्रफुल्लित हो रहा है। परन्तु नहीं, वह दुष्ट—वह रास्कल किसी और ही विचार में था। काश मैं उस समय उसके चेहरे से उसके विचारों को समझ सकता, तो एक भयानक रात्रि से बच जाता।

घड़ी ने छः बजाये। हरदयाल चौंककर खड़ा हो गया। और बोला—"आओ! थोड़ा बाहर घूम आयें।"

मैं बाहर न जाना चाहता था। परन्तु हरदयाल ने मेरी एक न सुनी, और मुझे बलात् घसीटकर ले गया। कौशल्या के शब्द कानों में गूँजते थे, ज्योतिषी की भविष्यद्वाणी मुझे रोकती थी, परन्तु हरदयाल मेरी एक न सुनता था, और हठ करता था कि मेरे साथ चलो। अन्त में मैं मान गया। मैं उसे

कष्ट करना न चाहता था। वह मेरा मित्र था। कम से कम मैं उसे ऐसा ही समझता था। हम दोनों बाहर गये। मौसम बहुत ही अच्छा था। हरदयाल धीरे धीरे गुनगुना रहा था।

कर्मन की गति न्यारी रे ऊधो।

कैसा समय था। शीतल वायु, चारों ओर सन्नाटा, आकाश निर्मल, मीठी रागिनी का आलाप कानों में, और अथाह सुख हृदय में। मुझ पर जादू-सा हो गया। मैं तन्मय होकर झूमने लगा, मानो किसी दिव्य शक्ति से हृदय की चिन्ताएँ क्षण-मात्र में दूर हो गई थीं। मैंने हरदयाल की ओर देखा। वह स्वतन्त्र पक्षी की नाईं प्रसन्न था, और उसकी आवाज़ आकाश तक जा रही थी—

कर्मन की गति न्यारी रे ऊधो।

सहसा हम मोड़ पर पहुँचे। यहाँ से उस पुरानी गुफ़ा को रस्ता जाता है, जो लोगों में भूत-निवास के नाम से प्रसिद्ध है। तुम्हें भूला न होगा कि हम कई बार उसके अन्दर जा चुके हैं। वह स्थान कैसा भयानक है? अन्दर पाँव रखते ही हृदय धड़कने लगता है। परन्तु मैं कई बार उसके अन्दर बहुत दूर तक जा चुका हूँ। हरदयाल ने उस ओर मुड़ते हुए कहा, "आज भूत-निवास की ओर चलेंगे"। पता नहीं क्यों मेरा हृदय काँप गया। परन्तु मैं मुँह से कुछ न बोल सका और चुपचाप हरदयाल के पीछे चला गया, जिस प्रकार स्वामिभक्त कुत्ता अपने स्वामी के पीछे चला जाता है। यहाँ तक कि हम उस पुराने समय की गुफ़ा के पास पहुँच गये। कोई साढ़े सात बजे होंगे, सूर्य अस्त हो रहा था, अन्धकार प्रकाश को खा रहा था। ठंडी वायु चलने लगी। हरदयाल एकाएक आगे बढ़ा और लोहे की सीख़ों का दरवाज़ा खोलकर गुफ़ा के अन्दर चला गया। प्रकाश थोड़ी दूर तक जाता था। परन्तु उसके आगे अथाह अन्धकार था। हरदयाल तेज़ी से उसके अन्दर घुसकर लोप हो गया और कुछ क्षण पश्चात् बोला, "किशोर! देखो मैं कितनी दूर आ गया हूँ।"

आवाज़ की गूँज ने उसका समर्थन कर दिया। इसके साथ ही भारी पाँव की

चाप सुनाई दी। थोड़ी देर बाद हरदयाल रूमाल से पसीना पोंछता हुआ निकल आया और मुझसे बोला, "तुममें भी साहस है तो जाकर दिखाओ। ओह! कितना अँधेरा है।"

लालचन्द! मैं डर-सा गया था। इसलिए मैं न चाहता था कि उस भयानक गुफ़ा के अन्दर पैर रखूँ। परन्तु विचार आया कि हरदयाल क्या कहेगा। मुझे कायर समझने लगेगा। चार मित्रों में खिल्ली उड़ायगा, यह असह्य है। मैं गुफ़ा के अन्दर घुस गया। उसके अन्दर भयानक अन्धकार था। मुझे सन्देह होने लगा कि दिन के प्रकाश को निगल जानेवाला अन्धकार कदाचित् रात को यहीं से निकलता होगा। मेरा दम घुटनेलगा। चारों ओर से डर लग रहा था। परन्तु मनुष्य अपनी निर्बलता दूसरों पर प्रकट नहीं करना चाहता। मैंने हृदय को कड़ा किया और धीरे धीरे वापस हुआ।

पर बाहर आकर हृदय बैठ गया। दरवाज़ा बाहर से बन्द था, और उस पर ताला पड़ा हुआ था।

मैंने सिर पीट लिया।

लालचन्द! ज़रा विचार करो। मैंने चिल्ला चिल्लाकर हरदयाल को बुलाया। परन्तु उसने मेरी और मेरी आवाज़ दोनों की कोई परवा न की। हाँ, दूर से उसकी आवाज़ गाती हुई सुनाई दी।

कर्मन की गति न्यारी रे ऊधो

इस समय यह आवाज़ कैसी भयानक प्रतीत होती थी। एक एक शब्द हृदय के लिए हथौड़ा बन गया। मैं सोचने लगा, यह क्या हो गया है? और इसका कारण क्या हो सकता है। परन्तु कुछ समझ न सका। हरदयाल की आवाज़ धीरे धीरे निस्तब्धता के समुद्र में डूब गई। उसके साथ ही मेरा धैर्य भी डूब गया। आँखों में आँसू भर आये। मैंने चीख-चीख़कर पुकारा। परन्तु कोई सहायता को न पहुँचा। यहाँ तक कि रात हो गई, और आकाश पर चन्द्रमा चमकने लगा। कभी यही चन्द्रमा देखकर मेरा मन मोर की नाईं नाचने लगता था। परन्तु इस समय घावों पर नोन छिड़का गया।

दस बज गये थे। मैं दरवाज़े के साथ लेटा निराशा में डूबा हुआ था। चन्द्रमा की किरणें मेरे निर्जन क़ैदख़ाने में आ रही थीं। एकाएक सरसराहट

का शब्द सुनाई दिया। मैं चौंक पड़ा। आँख उठाकर देखा तो लहू सूख गया। मुझसे एक गज़ की दूरी पर एक भयङ्कर नाग रेंगता हुआ आ रहा था। मेरी आँखों में मृत्यु का चित्र फिर गया। सोचने लगा, क्या करना चाहिए। कोई लाठी, कोई ईंट, कोई पत्थर पास न था। यहाँ तक कि बूट भी पाँवों में न थे। क्रोध से मैंने उन्हें भी उतारकर परे फेंक दिया था। और वह काली मृत्यु धीरे धीरे मेरे निकट सरक रही थी, मानो उसे निश्चय हो चुका था कि अब मेरा भागना असम्भव है। मेरी बुद्धि काम न करती थी। इन्द्रियाँ शिथिल हो रही थीं। बल क्षीण हो रहा था; जैसा कभी कभी स्वप्न में हो जाता है। मैंने आँख उठाई, नाग और भी निकट आ गया था। मैं घबरा गया। कोई उपाय न सूझा। सोचने लगा, क्या मेरी मृत्यु इसी निर्जन गुफ़ा में होने को है। सहसा अन्धकार में बिजली चमक गई। विचार आया, क्या यह उचित न होगा कि मैं चित लेट जाऊँ और सर्प मेरे शरीर के ऊपर से निकल जाय। सोचने का समय न था। मैंने शरीर ढीला छोड़ दिया और चुपचाप पड़ा रहा। एकाएक सर्प का शरीर मुझे अपने समीप लहराता हुआ दिखाई दिया। और एक क्षण पश्चात् मेरे कलेजे के साथ कोई कोमल-सी वस्तु आकर लगी। मेरा रक्त भय से जम गया। शरीर पसीने से भीग गया। दिमाग़ खौलने लगा। संसार एक स्वप्न-सा प्रतीत होने लगा। सर्प शनैः शनैः सरकता हुआ मेरी छाती पर चढ़ आया और वहाँ कुण्डली मारकर बैठ गया। मैंने यह देखा और मेरे प्राण होंठों पर आ गये। इसके साथ ही मैं अचेत हो गया।

प्रातःकाल जब मेरी आँख खुली उस समय सूरज निकल चुका था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे रात को भयानक स्वप्न देखा है। आँखें मलता हुआ उठ बैठा। परन्तु गुफ़ा का दरवाज़ा बन्द देखकर फिर वास्तविक अवस्था सामने आ गई, और ओह! पास ही साँप पड़ा सो रहा था। वही काला मृत्यु इस समय भी मेरी आँखों के सामने पड़ी थी। मुझ पर फिर भय छा गया। सहसा किसी के पाँव की चाप सुनाई दी। मेरा हृदय धड़कने लगा। सामने हरदयाल खड़ा देख रहा था। क्या एक साँप मेरे मारने के लिए थोड़ा था, जो परमात्मा ने एक और भेज दिया। मैंने घृणा से मुँह फेर लिया। मैं मर रहा था, परन्तु मेरा अभिमान अभी तक जीता था।

हरदयाल ने साँप को देखा तो ठिठक गया। इस समय उसका मुख हलदी से अधिक पीला था, लाश से अधिक भयानक। वह तेज़ी से भागता हुआ चला गया, और आध घण्टे के पश्चात् वापस हुआ। यह आध घण्टा मेरे लिए आधी शताब्दी से भी लम्बा था। इस समय उसके एक हाथ में दूध का बरतन था, दूसरे में पिस्तौल। उसने धीरे से दरवाज़ा खोला। मेरा लहू सूख गया। साँप का जागना मृत्यु का जागना था। तब उसने दूध का बरतन साँप के निकट रख दिया और हाथ से ताली बजाई। साँप न जागा। फिर बजाई, फिर भी न हिला। अन्त में ज़ोर से चिल्लाया, और पूरे ज़ोर से ताली बजाई। साँप की नींद खुल गई। उसने दूध के बरतन को देखा, राजाओं के समान आगे बढ़ा, ग्रीवा उठाई, और दूध के बरतन में झुक गया। तत्काल पिस्तौल चला, और साँप की देह लोटने लगी। दूध के लोभ में आगे बढ़ा था, मौत का ज़हर पीना पड़ा। मैंने छलाँग मारी, और क़ब्र से बाहर आया।

हरदयाल रोता हुआ मेरे पैरों से लिपट गया और बोला, "मुझे क्षमा कर दो।"

मैंने आश्चर्य से पूछा, "पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। फिर क्षमा करूँगा।"

हरदयाल ने कहा, "पूछिए।"

मैंने पूछा, "यह जो कुछ हुआ है, क्या है?"

"अकारण पाप का तमाशा।"

"नहीं खुलासा कहो!"

"मैं चाहता था कि कौशल्या से मेरा ब्याह हो। इसलिए मैंने कराची से ज्योतिषी को लिख दिया था कि तुम्हें भ्रम में डाल दे, और २१ अगस्त को अशुभ दिन बतला दे। उधर मैंने राय साहब हीरालाल को सूचना दी कि किशोरचन्द के आचार अच्छे नहीं हैं, और ख़ुरशीद बेगम से उसका सम्बन्ध है। ख़ुरशीद को पता लग गया है कि २१ अगस्त का दिन ब्याह के लिए नियत हो गया है, परन्तु किशोर इसे नहीं मानता। अन्त में निश्चय यह हुआ है कि उस रात किशोरचन्द ख़ुरशीद बेगम ही के यहाँ रहेगा, और आपसे वह तारीख़ बदलने की प्रार्थना करेगा। राय साहब ने यह पढ़ा तो लाल-पीले हो गये, और

उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि यह बात सच निकली तो कौशल्या का ब्याह मेरे साथ कर देंगे।"

"तुम्हारे साथ?" मैंने चिल्लाकर पूछा।

"हाँ मेरे साथ! इसी लिए मैंने यह सब कुचक्र रचा और तुम्हें यहाँ बन्द करके राय साहब के यहाँ पहुँचा। परन्तु कौशल्या ने हठ किया कि जब तक राय साहब अपनी आँखों से तुम्हें खुरशीद के यहाँ न देख आयेंगे तब तक मैं इस पर विश्वास न करूँगी। परिणाम यह हुआ कि उस रात राय साहब खुरशीद बेगम के यहाँ पहुँचे और अण्डा फूट गया।"

मैंने कहा, "यह सब बातें राय साहब के मुँह पर कह सकोगे?"

"कह सकूँगा।"

"कब?"

"अभी चलकर।"

"तो चलो।"

यह कहकर हरदयाल मेरे साथ चला और हम दोनों रायसाहब के पास पहुँचे। उस समय वे बड़े उदास थे। मुझे देखकर इस प्रकार खिल गये जैसे दीपक में तेल पड़ जाता है। परन्तु हरदयाल को देखकर उनके तन-बदन को आग लग गई। कड़ककर बोले, "तू यहाँ क्यों आया है?"

मैंने उत्तर दिया, "इसका आना आवश्यक था।"

रायसाहब कुर्सी पर बैठ गये। हरदयाल ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया, और अपने अपराध को स्वीकार किया। इस समय रायसाहब की आँखों में आँसू छलक रहे थे। मुझे गले लगाकर बोले "मुझे क्षमा कर दो, मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है।"

हरदयाल उठकर बाहर निकल गया। मैं चुप था, आनन्द ने मेरी जीभ बन्द कर दी थी। राय साहब बोले, "जाओ आराम करो, परन्तु यह ब्याह अगले महीने अवश्य हो जाना चाहिए। यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा है। तुम्हें अब कोई आपत्ति तो नहीं?"

मैंने सिर हिला दिया।

तुम्हारा शुभचिन्तक—
किशोरचन्द्र

नोट—कल से हरदयाल का कोई पता नहीं। लोग कहते हैं कि वह अपने पापों का प्रायश्चित्त करने कहीं चला गया है। परन्तु मुझे इस पर विश्वास नहीं।

(८)

नागभूमि
२१ अगस्त १९०५

माई डियर किशोरचन्द !

दो वर्ष बीत गये। मैं अपने पाप का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ, मैं कहाँ रहता हूँ यह नहीं लिखूँगा। परन्तु इतना लिख देता हूँ कि यह स्थान सर्पों का घर है। इस ओर आने का लोग साहस नहीं कर सकते। आसपास के लोग इसे हत्यारी भूमि के नाम से पुकारते हैं। परन्तु मैं इसे नागभूमि कहता हूँ। दिन-रात बड़े बड़े विषधर सर्प आँखों के सामने रहते हैं। प्रतिक्षण भय रहता है कि कोई सर्प काट न खाय। रात को सोता हूँ, तो यह नहीं कह सकता कि प्रातःकाल उठूँगा या नहीं। मृत्यु सदा सामने दिखाई देती है, परन्तु निकट नहीं आती—यह दुःख मौत से बढ़कर है। लोग एक बार मरते हैं, मैं प्रतिक्षण मरता रहता हूँ। परन्तु मुझे इस बात का सन्तोष है कि मैंने इसी जन्म में अपने कर्मों का फल पा लिया है।

आज २१ अगस्त है। वही जेहलम की गुफा याद आ रही है। ओह ! मैं कितना निर्दय, कितना पापी, कैसा मित्रमार हूँ। उस दिन मुझे क्या हो गया था ? मेरी बुद्धि पर कैसा पर्दा पड़ गया था ? मैंने कितना नीच कर्म किया था ? अब भी वह घटना याद आती है, तो लहू सूख जाता है। आह ! वह काला साँप जब तुम्हारी छाती पर बैठा होगा, उस समय तुम्हारा प्रेम से भरा हुआ हृदय क्या कहता होगा ? जब इसका विचार करता हूँ, तो दिमाग में आग सी लग जाती है। परन्तु प्यारे किशोरचन्द ! दो वर्ष से इसी प्रकार के काले साँपों में जीवन बिता रहा हूँ। जी चाहता है कि एक बार तुम्हें देख लूँ। परन्तु क्या करूँ, साहस नहीं पड़ता। तुम्हारे सम्मुख आँखें नहीं उठ सकेंगी। कभी उनमें प्रीति खेलती थी, आज क्रोध बैठा होगा। वह क्रोध देखकर मेरी आँखें सहन न कर सकेंगी। इसी से तुम्हारे सामने नहीं आऊँगा।

यहीं रहूँगा, जब तक जीता रहूँगा, इन्हीं सर्पों को—मृत्यु की प्रत्यक्ष मूर्तियों को देखूँगा और अन्त में इन्हीं में से किसी एक के विष से मर जाऊँगा।

परन्तु एक लालसा है और रहेगी कि तुम दोनों मुझे क्षमा कर दो, ताकि मरते समय शान्ति से मर सकूँ। मैंने जो गढ़ा तुम्हारे लिए खोदा था, उसमें स्वयं गिरा। और २१ अगस्त का दिन मेरे ही लिए अशुभ सिद्ध हुआ। ओह! परमेश्वर ने मेरी जीवन-पुस्तक में यह काला पृष्ठ क्यों रख दिया?

तुम्हारा अभागा मित्र—

हरदयाल।

प्रणय-रात्रि

(१)

पटना में एक स्त्री रहती थी। उसका नाम वासव था।

वह सुन्दरी थी। उसके शरीर में वसन्त की बहार, मोहनी और सुगंध थी।

वह युवती थी। उसके यौवन में बढ़ते हुए चन्द्रमा का विकास और माधुर्य्य और काव्य था।

वह धनवती थी। उसके सन्दूकों में बहुमूल्य वस्त्र, मनोहर आभूषण और सोने की मोहरें थीं।

परन्तु उसके पास कुछ भी न था—वह वेश्या थी।

(२)

उसी नगर के बाहर एक नवयुवक साधु रहता था। उसका नाम उपगुप्त था।

उसके पास अपना मकान न था। उसके पास अपने वस्त्र न थे। उसके पास रुपया-पैसा न था।

परन्तु उसके पास आँखों की मुस्कान, चित्त की स्थिरता और शान्ति की नींद थी।

वासव धर्म्म को पाप की पृथ्वी पर पछाड़ती थी, उपगुप्त अधर्म्म के अभागे पुत्रों की शोचनीय अवस्था पर अपनी सुन्दर आँखों के पवित्र आँसू बहाता था। और दोनों को एक दूसरे का पता न था।

(३)

एक दिन दैवयोग से दोनों का सामना हो गया।

उपगुप्त ने पाप की पुत्री वासव को देखा, और आँखें झुका लीं। वासव ने धर्म के भिक्षु उपगुप्त को देखा, और उसके हृदय में हलचल मच गई।

वासव ने कुसुम-संगीत से भी सुकोमल स्वर में कहा—"जोगी! यहाँ मिट्टी में क्यों पड़े हो? मेरे साथ आओ। मैं तुम्हें दिल के आसन पर बिठाऊँगी।"

उपगुप्त के मनमन्दिर पर स्त्री के सौन्दर्य ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से आक्रमण किया। परन्तु उस पर असर न हुआ।

उसने पृथ्वी की ओर देखा और कहा—"अभी समय नहीं आया। कभी मिलूँगा।"

(४)

दो वर्ष बीत गये। वासव के दिल में एक ही चिन्ता, एक ही अभिलाषा थी—प्रणय-रात्रि कब आयेगी।

वह बार बार उपगुप्त के पास गई। परन्तु उसने हरबार यही उत्तर, दिया—"अभी वह रात नहीं आई।"

हारकर वासव ने उपगुप्त का विचार भुला दिया, मगर उपगुप्त के हृदय में उसकी स्मृति ज्यों की त्यों बनी हुई थी।

(५)

पटना में एक स्त्री रहती थी।

वह कुरूपा थी, उसके शरीर से दुर्गन्ध आती थी। वह बूढ़ी थी, उसके शरीर

को मौत का कीड़ा लग चुका था। वह निर्धन थी, उसे रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए दूसरों के मुँह की ओर देखना पड़ता था।

यह वही सुन्दरी, कोमलांगी धनवती वासव थी। आज उसकी तरफ़ कोई देखता भी न था।

(६)

सौंदर्य और यौवन के विनाश का यह समाचार उपगुप्त ने सुना, और वह अपनी तपस्या छोड़कर वासव के पास आया।

"कौन है ?"

"उपगुप्त"

"चले जाओ" वासव ने चीखकर कहा—"अब समय नहीं रहा।"

"नहीं वासव ! आज ही प्रणय-रात्रि है। आज ही मेरे आने का समय है। जब सुन्दरता, सुख और वैभव के दिन थे, उन दिनों तुम्हें मेरी आवश्यता न थी। तुम्हारे पास और कई रसिया थे। परन्तु आज वह लावण्य बूढ़ा हो चुका है, वह शोभा कुम्हला गई है, वह सुख बीते हुए समय की स्मृति के समान दुःखदायक रह गया है। आज वह तुम्हारे प्रेमी कहाँ हैं ? आज वह तुम्हारे यौवन के लोभी कहाँ चले गये ? किस दुनिया को ? आज मेरा समय है। आज मेरी प्रणय-रात्रि है। मैं आया हूँ और तुम्हें छोड़कर कहीं न जाऊँगा—मैं तुम्हारी सेवा करूँगा।"

वासव ने अपनी मरती हुई आँखें खोलीं और फिर सदा के लिए बंद कर लीं।

उपगुप्त ने कमण्डल से पानी लेकर वासव के गले में टपकाया। पर वह कहाँ थी ?

उपगुप्त की आँखें भी सजल हो गईं।

एक ग़रीब की आत्म-कथा

(१)

जमादार गणेशसिंह ने बिशनदास के कमरे के सामने पहुँचकर कहा, "बिशनदास जागते हो ?"

बिशनदास अपना सिर घुटनों में दबाये कुछ सोच रहा था। जमादार की आवाज़ सुनकर चौंक पड़ा और बोला, "हाँ, जागता हूँ। कितने बजे होंगे ?"

जमादार ने उसकी ओर करुणा-भरी दृष्टि से देखा और ठण्डी साँस भर उत्तर दिया, "तीन।"

"तो वह घड़ी निकट आ गई, अब केवल कुछ ही घण्टे बाक़ी हैं।"

"हूँ।"

इस समय जमादार की आँखों में आँसू थे, हृदय में वेदना, रुद्ध कण्ठ से बोला, "अगर दरख़ास्त मंजूर हो जाती तो मैं महावीर को लड्डू चढ़ाता।"

बिशनदास को हत्या के अपराध में फाँसी का हुक्म हो चुका था। वह रात्रि उसके जीवन की अन्तिम रात्रि थी। जमादार गणेशसिंह को उससे बहुत स्नेह हो गया था। वह चाहता था कि यदि बिशनदास छूट जाय तो इसे अपना बेटा बना लूँ। परन्तु यह लालसा मन ही मन में रह गई और वह भयानक समय निकट आ गया। गणेशसिंह का हृदय बैठा जाता था, परन्तु बिशनदास

के मुख पर विषाद न था। असीम निराशा ने उसके डाँवाडोल हृदय पर सन्तोष और शान्ति का मरहम रख दिया था। वह इतना सुन्दर और भोला-भाला था कि उस पर हत्या का सन्देह तक न होता था।

मृत्यु के निकट पहुँचकर भी मनुष्य ऐसा स्थिर रह सकता है, यह राजेश-सिंह के लिए नया अनुभव था। उसका स्वर भारी हो गया और नेत्रों में आँसू छलकने लगे। सहसा उसने आँखें पोंछ दीं और ठण्डी साँस भरकर कहा, "बिशनदास, क्या ही अच्छा होता यदि तुम यह हत्या न करते।"

बिशनदास बैठा हुआ था, यह सुनकर खड़ा हो गया और जोश से बोला, "परन्तु मैं निर्दोष हूँ।"

"निर्दोष हो! यह तुम क्या कह रहे हो?"

"सच कह रहा हूँ।"

जमादार ने पैंतरा बदलकर पूछा, "तो फिर यह फाँसी क्यों पा रहे हो?

"यदि चाहता तो कम-से-कम-इससे बच सकता था।"

जमादार चकित होकर बोला, "तुमने यत्न क्यों न किया?"

"इसमें एक रहस्य है।"

"क्या मुझे भी नहीं बता सकते?"

बिशनदास थोड़ी देर चुप रहा और कुछ सोचता रहा, जिस प्रकार कोई आत्म-हत्या से पहले सोचता है। इसके पश्चात् बोला, "मेरी इच्छा न थी कि यह रहस्य मेरे मुख से प्रकट होता और इसी लिए मैं इसे अपने हृदय में दबाये हुए फाँसी के तख्ते की ओर जा रहा हूँ। परन्तु तुमने मुझसे जो सहानुभूति की है उसने मुझे विवश कर दिया है कि यह रहस्य तुम्हारे सामने खोल दूँ।"

राजेशसिंह दत्तचित्त होकर सुनने लगा। बिशनदास ने अपनी कहानी कहना आरम्भ किया—

जमादार! मैं उन अभागे मनुष्यों में से एक हूँ जो संसार में बिना बुलाये आ जाते हैं और जिनके लिए माता-पिता के पास खाने-पीने का कोई प्रबन्ध नहीं होता। मेरे माता-पिता निर्धन थे। दिन-रात मज़दूरी करते थे, परन्तु फिर भी उनकी आवश्यकताएँ पूरी न होती थीं। सदा उदास रहा करते थे। हम तीन भाई थे, चार बहनें। हमारे माता-पिता से हमें सँभाले न सँभलता

था। प्रायः हम पर झुँझलाते रहते थे। मुझे अपने बचपन का कोई दिन याद नहीं जब मुझे मारा-पीटा न गया हो। और यह व्यवहार अकेले मुझी से नहीं, सारे बहन-भाइयों के साथ होता था। हम प्यार और दुलार की आँखों के लिए तरसते रहते थे। परन्तु इस अमोल वस्तु से हमारा प्रारब्ध वञ्चित था। जब हम दूसरे बच्चों के साथ अपनी अवस्था की तुलना करते तो हमारे छोटे-छोटे हृदय सहम जाते थे, परन्तु सिवा चुप रहने के कोई उपाय न था। इसी प्रकार हम बड़े हुए और माता-पिता के साथ मज़दूरी करने लगे। इस समय तक हम सबका ब्याह हो चुका था। यह अभागा भारत ही ऐसा देश है, जहाँ रोटी खाने को प्राप्त हो या न हो, परन्तु माता-पिता सन्तान का ब्याह कर देना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं। ज्ञात पड़ता है, इसके बिना उनकी गति न होगी।

मैंने मज़दूरी के साथ साथ रात को पढ़ना भी आरम्भ कर दिया। इससे मेरे माता-पिता आगबबूला हो गये। उनका ख़याल था, इससे मेरा सिर फिर जायगा, और मैं उनके काम का न रहूँगा। इसलिए वे मेरी पुस्तकें फाड़ दिया करते थे। परन्तु मैं उनके विरोध में धीरज न छोड़ता था, दूसरे दिन और पुस्तक ले आता था। इस प्रकार मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ लीं, और एक पद पर मुंशी हो गया। मेरे माता-पिता के क्रोध की सीमा न थी। वे मेरी ओर इस क्रोध से देखते थे, मानो मैंने किसी की हत्या कर डाली है। यहाँ तक कि एक दिन मेरे पिता ने मुझे गन्दी गालियाँ भी दीं। मेरा रक्त उबलने लगा। यह गालियाँ बचपन में एक साधारण बात थी। उस समय हृदय में क्रोध और दुःख के लिए कोई स्थान न था। परन्तु अब मैं चार अक्षर पढ़ गया था, मैं उसे सहन न कर सका और स्त्री को लेकर किराये के मकान में चला गया। उस समय मेरी आयु उन्नीस वर्ष के लगभग थी।

(२)

जमादार! तीन वर्ष निकल गये। मैं बढ़ता बढ़ता एक अच्छे पद पर पहुँच गया। उस समय मैं एक प्रेस में ३०) मासिक पर नौकर था। मैं और मेरी स्त्री आनन्द के मद में मतवाले थे। यद्यपि यह वेतन अधिक न था, परन्तु मेरे लिए, जिसके भाई पाँच-छः आने रोज़ पर धक्के खाते फिरते थे, यह नौकरी

एक ऐसे उच्च पद के बराबर थी जिसको ऐश्वर्य भी ईर्ष्या की दृष्टि से देखता हो। परन्तु क्या पता था कि यह आनन्द अस्त होते हुए सूर्य की लाली है, जिसके पीछे अँधेरी रात छिपी है।

प्रेस के मैनेजर को मुझ पर पूर्ण विश्वास था। वह मुझे ऐसा भलामानस समझता था कि मेरे काम की पड़ताल भी नहीं किया करता था। और इतना ही नहीं, मेरी सच्चाई की सारे कर्मचारियों पर धाक थी। वह मुझे देवता समझते थे। उस समय मेरा हृदय सचाई का भाण्डार था, आँखें सन्तोष का नमूना। धर्म से पतित होने के कई अवसर हाथ आये और निकल गये, परन्तु मेरा निश्चय कभी डाँवाडोल नहीं हुआ। उन दिनों को जब याद करता हूँ तो कलेजे पर छुरियाँ चल जाती हैं। अब कोई शक्ति यदि एक ओर संसार भर की सम्पत्ति और ऐश्वर्य उँडेल दे, और दूसरी ओर वे दिन रख दे तो मैं उन दिनों को छोड़ कर दूसरी ओर देखना भी पसन्द न करूँगा। परन्तु क्या काल निगले हुए दिनों को उगल सकता है?

कहते हैं, भगवान् को जब किसी पर विपत्ति भेजनी होती है तब पहले उसकी बुद्धि पर पर्दा डाल देते हैं। मेरी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। एक छोटी-सी रक़म पर मन फिसल गया। मैनेजर की प्रशंसा और भरोसे ने मेरा साहस बढ़ा रक्खा था। मैंने आगा-पीछा सोचे बिना डुबकी लगा दी। परन्तु बाहर निकला तो किनारे का पता न था। मेरा पाप प्रकट हो गया। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने आकाश से पृथ्वी पर फेंक दिया हो। मैं रोते रोते मैनेजर के पैरों से लिपट गया। परन्तु उसे मुझ पर दया न आई। झिड़क कर बोला "बस, अब तुम्हारा यहाँ रहना असम्भव है। मुझे यह पता न था कि तुममें यह गुण भी भरे होंगे।"

(३)

अभाग्य! जब मैं प्रेस से निकला तो संसार मेरी दृष्टि में शून्य हो रहा था और मेरा अन्तःकरण मुझे बार बार धिक्कार रहा था। उस समय मुझे पता लगा कि कोई शुद्ध हृदय मनुष्य जब पहली बार पाप का शिकार होता है तो उसके हृदय की क्या अवस्था होती है। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि मेरा प्रेस

का पाप मेरा पहला और अन्तिम पतन होगा! परन्तु शोक! समाज ने मेरा पवित्र सङ्कल्प इस प्रकार नष्ट कर दिया, जिस प्रकार छोटे बालक फूल की पत्तियों को पाँव तले मसल डालते हैं और उनके विषय में कुछ सोचने की परवा नहीं करते। मैंने तीन मास तक यत्न किया, परन्तु मुझे कोई नौकरी न मिली। घर में जो चार पैसे जमा किये थे, वह भी ख़र्च हो गये। मैं प्रातःकाल निकलता, सारा दिन शहर की मिट्टी छानता और साँझ को घर लौटता। मेरी स्त्री पूछती, काम बना? मेरे कलेजे में बर्छियाँ चुभ जातीं। लज्जा-भरी आँखों से उत्तर देता, नहीं। यह उन दुर्दिनों का नितनेम था जिनको थोड़े दिनों के सुख की स्मृति ने और भी दुःखमय बना दिया था, जैसे थोड़े समय का प्रकाश अन्धकार को और भी घना बना देता है।

मेरी स्त्री के पास कुछ आभूषण थे, वह बेचने पड़े। उनको बनवाते समय उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न था। निर्धन घराने की लड़की के लिए यह ऐसा सौभाग्य था जिस पर अप्सरायें भी ईर्ष्या करती हैं। मुझे वह समय कभी नहीं भूल सकता, जब उसने काँपते हुए हाथों से वह आभूषण मुझे बेचने के लिए दिये थे। उस समय उसका मुख कपास के फूलों की नाईं पीला था, आँखों में आँसू भरे थे। जमादार! मेरे जीवन में वह क्षण अतीव दुखदायी था। उस दिन के पश्चात् मैंने अपनी स्त्री के मुख पर कभी मुस्कराहट नहीं देखी, मानों आभूषणों के साथ उसके मुख की कांति भी बिक गई। मेरा प्रारब्ध और भी अन्धकारमय हो गया।

मैंने बहुत यत्न किया, परन्तु मेरा प्रारब्ध मेरी प्रत्येक चेष्टा को व्यर्थ बनाने पर तुला हुआ था। यहाँ तक कि तीन दिन भूखे रहते हो गये। मैं अपनी दृष्टि में आप लज्जित होने लगा। चौथे दिन जब बाहर निकला तो मेरी स्त्री ने कहा, "मेरी मानो तो जब तक अच्छी नौकरी न मिले तब तक कोई साधारण ही कर लो।"

इन शब्दों में कितनी निराशा थी, कितना दुःख। मेरा मन बेबस हो गया, आँखों में आँसू छलछला आये। एक सौदागर की दूकान पर जाकर बोला, "आपको किसी आदमी की ज़रूरत है?"

सौदागर ने मुझे सिर से पाँव तक देखा, परन्तु इस प्रकार जैसे इसका

बकरे को देखता है, और कहा, "क्या कर सकोगे ?"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। मैंने समझा, काम बन गया। नम्रता से उत्तर दिया, "मैं उर्दू-हिन्दी पढ़-लिख सकता हूँ।"

"तो देखो, यह बिलों की नकलें पड़ी हैं। रजिस्टर देख देख कर छाँटते जाओ कि कौन कौन से बिल की रकम वसूल होना बाकी है।"

मैंने काम आरम्भ कर दिया, और बिजली की सी तेज़ी से। यदि प्रेस में होता तो उस काम में कम से कम तीन दिन लगते। परन्तु यहाँ नई नौकरी थी, सन्ध्या तक सारे बिल छाँट डाले और दूकानदार से कहा, "काम पूरा हो गया।"

उसने मेरी ओर सन्तोषपूर्ण दृष्टि से देख कर उत्तर दिया, "तुम बहुत ही समझदार हो। मेरा नौकर एक मास तक नौकरी छोड़ जानेवाला है। अपना पता छोड़ जाओ, मैं तुम्हें सूचना दे दूँगा।"

मेरी आशाओं पर पानी फिर गया। जब कोई भूला हुआ यात्री टिमटिमाते हुए दीपक को देखकर तेजी से पाँव उठा रहा हो और एकाएक वह दीपक, उसकी अन्तिम आशा भी, वायु के झोंकों से बुझ जाय तो जो दशा उसके हृदय की हो सकती है वही दशा मेरे हृदय की हुई। मैं घर आकर टूटी हुई चारपाई पर गिर पड़ा और बच्चों की नाईं सिसकियाँ भर भर कर रोने लगा। मेरी स्त्री मेरी दशा को भाँप गई थी, चुपचाप मुँह फुलाये बैठी रही। उसकी यह रुखाई मेरे घावों पर नमक का काम कर गई। परन्तु इतना ही नहीं, कुछ देर बाद बोली, "क्या सो गये हो ?"

आवाज़ में घृणा मिली हुई थी, नमक पर मिर्च छिड़की गई। मैंने अपराधी की नाईं उत्तर दिया, "नहीं।"

"मालिक-मकान आया था। कह गया है, परसों तक तीन महीनों का किराया पहुँचा दो, नहीं तो नालिश कर दूँगा।"

"अच्छा।"

"देवकी अपने रुपये माँगती है, कहती थी, बरतन का मुँह खुला हो पर कुत्ते को तो शर्म चाहिए।"

मैं चुप रहा।

"कुन्दन आज फिर पड़ोसी के घर से रोटी उठा लाया है। तुमसे क्या कहूँ, मारे लज्जा के प्राण निकल गये, परन्तु तुमको इतनी समझ भी नहीं कि कोई हलका ही काम कर लो। अब मुन्शीगिरी न मिले तो क्या भूखों मरेंगे ?"

परन्तु मुझे मजदूरी करना पसन्द न था। अपने पिता के शब्दों में मैं पढ़-लिख कर काम का न रहूँगा, मेरा मस्तिष्क बिगड़ गया था। रस्सी जल गई थी, परन्तु ऐंठन बाकी थी।

(४)

जमादार ! दूसरे दिन मैं अँधेरे मुँह ही घर से निकल गया। मुझे स्त्री से डर लगने लगा था। मनुष्य बाहर अपमानित होता है तो घर की ओर भागता है। वहाँ उसे एक प्रकार का सहारा मिल जाता है। परन्तु उस मनुष्य के दुर्भाग्य का क्या ठिकाना है जो अपमान से भाग कर घर की ओर आय और वहाँ उससे भी बड़ा अपमान उपस्थित हो। मेरी यही दशा थी। मैं सोच रहा था कि अब मेरे लिए कोई रास्ता है या नहीं। सहसा निराशा में आशा की किरण दिखाई दी। मुझे अपने मित्र ज्ञानचन्द का ध्यान आया। प्रेस की नौकरी के दिनों में मेरा उससे अच्छा मेलमिलाप था। वह मेरी भलमंसी पर मोहित था। प्रायः कहा करता, "किशनदास ! कुछ दिनों की बात है, फिर मैं यह नौकरी तुम्हें कभी न करने दूँगा।"

यह बातें उसके हृदय से निकलती थीं। वह एक धनी-मानी पुरुष का बेटा था। उसे खाने-पीने की परवा न थी। उसके दरवाजे पर मोटरें खड़ी रहती थीं। परन्तु किसी छोटी-सी बात पर पिता-पुत्र में अनबन हो गई, इसलिए उसने प्रेस में नौकरी कर ली थी। मगर वह जानता था कि मजदूरी का दौर थोड़े ही दिन रहेगा। मुझसे प्रायः कहा करता था; "तुम्हें दूकान खोल दूँगा, यह क्लर्की पत्थर के साथ सिर फोड़ने के समान है।" मैं उसका धन्यवाद करके चुप रह जाता था। एक दिन पता लगा, उसका पिता मर गया, है ज्ञानचन्द लाखों का मालिक बना। उस दिन उसने विदा होते हुए अपने शब्दों को फिर दोहराया, और उसी प्रेम, उसी जोश से।

मैं उसके घर की ओर चला। परन्तु दरवाज़े पर पहुँच कर अन्दर जाने

का साहस न हुआ। मेरे कपड़े तार तार हो रहे थे। मुँह पर दारिद्र्य बरस रहा था। विचार आया, 'इस अवस्था में मित्र के सामने जाना उचित नहीं। परन्तु फिर सोचा, इसके सिवा उपाय ही क्या है। हिचकिचाते हुए पाँव आगे बढ़े। एक नौकर ने देख कर कहा, "क्यों ? किसे देखते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "बाबू ज्ञानचन्द हैं ?"

"उनसे मिलना है ?"

"हाँ !"

"तो वह सामने कमरे में हैं, चिक उठाकर चले जाओ।"

मैं अन्दर पहुँचा। ज्ञानचन्द सिगार पी रहा था। उसके ठाट-बाट को देख कर मुझ पर रोब छा गया। उसने थोड़ी देर मेरी ओर देखा, और फिर बड़े सेठों की नाईं ऐंठ कर पूछा, "हैलो ! मिस्टर विशनदास ! आज कैसे भूल पड़े ? यार अजीब आदमी हो। पास रहते हो, फिर भी कभी नहीं आते। क्या कुछ नाराज़ हो ?"

मैंने उसकी आँखों की ओर देखा। वहाँ कभी प्रेम का वास था, परन्तु आज उसके स्थान में अभिमान बैठा था। मैंने सिर झुका कर उत्तर दिया, "आपसे नाराज़गी कैसी ? वैसे ही नहीं आ सका।"

"तो अब आया करोगे ?"

ज्ञानचन्द ने एक अत्युत्तम बढ़िया सिगार-केस से एक क़ीमती सिगार निकाला और मेरे सामने रख कर बोला, "पियो।"

"मैंने कभी पिया नहीं।"

ज्ञानचन्द ने हँस कर कहा, "माफ करना, मुझे ख़याल नहीं रहा कि तुम सिगार नहीं पीते। चाय मँगवाऊँ ?"

"नहीं।"

"तो फिर तुम्हारी क्या ख़ातिर की जाय ?"

"आपकी दया चाहिए।"

"दया को फेंको चूल्हे में। ज़रा सामने देखो, दो तस्वीरें पैरिस से आई हैं, सच कहना, कैसी हैं ?"

"बहुत ही सुन्दर, ऐसी तसवीरें सारे शहर में न होंगी।"

"साढ़े तीन सौ में ख़रीदी हैं।"

"परन्तु चीज़ें भी बहुत बढ़िया हैं, (बात का प्रकरण बदल कर) मैं इस समय इसलिए........."

जान पड़ता है, ज्ञानचन्द मेरे हृद्गत विचार को भाँप गया था। यह जतला कर कि उसने मेरी बात नहीं सुनी है वह बात काटकर बोला, "यार तुमसे क्या पर्दा है। इस क़िस्म के ठाट-बाट से भरम बना रक्खा है, वर्ना पैसे पैसे को मोहताज हो रहा हूँ। पिताजी ने, मालूम होता है, हवा ही बाँध रक्खी थी। मगर मुझसे ऐसा होना मुश्किल है। जी चाहता है, मकान बेचकर कहीं निकल जाऊँ और दस रुपये की नौकरी कर लूँ।"

मैं चुप रह गया। ज्ञानचन्द की बातों ने मुझे निरुत्तर कर दिया। जिस प्रकार प्यासा मृग रेत के थलों को सरोवर समझ कर चौकड़ी भरता हुआ आता है और निकट पहुँच कर निराश हो जाता है, वही दशा मेरी हुई। आशा के पौधे को निराशा की गर्जती लहरों ने निगल लिया। मैं कैसी आशा से इधर आया था, परन्तु उस पर पानी फिर गया। मैं निराश होकर उठ खड़ा हुआ और पृथ्वी की ओर देखते हुए बोला, "तो आज्ञा है?"

ज्ञानचन्द के मुख पर विजय के चिह्न दिखाई दिये। उसने समझा, यह निपट मूर्ख है। मेरा मन्त्र चल गया। जो गुड़ से मरे उसे विष क्यों दिया जाय। जोश से कहने लगा, "तो कभी-कभी मिलते रहा करो।"

मैं गङ्गा के तट से प्यासा वापस हुआ। मेरा सत्यपरायणता का प्रण टूट गया। इस स्वार्थी कृतघ्न कपटी संसार में यह निर्बल दीपक कामना और मनोरथ के झोंकों के प्रबल थपेड़ों से कब तक सुरक्षित रह सकता है? मेरे नेत्रों में नई ज्योति उत्पन्न हुई। संसार नवीन रूप में दिखाई देने लगा, जहाँ हर एक आदमी रुपये-पैसे पर इस प्रकार टूटता है, जैसे चील मांस पर। धर्म क्योंकि वायु से हलका और पानी से पतला प्रतीत होने लगा, इस समय मेरी आँखें खुल चुकी थीं। कभी मैं इसे प्राणों से प्यारा समझता था, उस समय मैं नितान्त मूर्ख था।

(५)

जमादार! मैं और मेरी स्त्री चार दिन के भूखे थे। मेरा फूल के समान

बच्चा रोटी के टुकड़े के लिए तरसता था। मालिक-मकान किराये के लिए तगादे करता था। इस दुःख के तूफ़ान से अशान्त नदी में धर्म की नौका कब तक ठहर सकती थी? मैं रात के समय एक सेठ के मकान में दबे पाँव घुस गया, और उसकी बैठक में पहुँचा। दूर आँगन में बच्चे शोर करते थे। नौकर अपने अपने काम में लगे थे। चारों ओर ऐश्वर्य्य बरस रहा था। मुझे यह दृश्य एक सङ्गीतमय स्वर्गीय स्वप्न-सा प्रतीत हुआ, हृदय और मस्तिष्क अपने आपको भूलकर इसमें मग्न हो गये। क्या इस दुःखमय संसार में कोई ऐसा स्थान भी है, जहाँ ऐश्वर्य्य नाचता और सुख-सम्पत्ति मुस्कराती है। सहसा मुझे अपने घर की याद आ गई। हृदय में भाला-सा चुभ गया। यहाँ आनन्द खेलता है, वहाँ प्रारब्ध रोता है। मैंने चारों ओर व्याकुल आँखें दौड़ाईं। वह एक अलमारी पर जाकर ठहर गईं। तीर निशाने पर बैठा। मैंने मन में कहा, इस पर हाथ चलाना व्यर्थ न जायगा।

मैंने जूता उतार दिया, और बड़ी सावधानी से आगे बढ़ा। प्रेस की नौकरी के दिनों ने मैशीनों के खोलने-खालने का ढङ्ग सिखा दिया था। वह इस समय काम आ गया। अँधेरे में दिया मिल गया। मैंने जेब से एक हथियार निकाला, और ताला तोड़कर अलमारी खोली। उस समय मेरा कलेजा ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। एकाएक आशा का चमकता हुआ मुख दिखाई दिया। पाप के वृक्ष को सफलता का फल लग गया था। मैंने नोटों का पुलन्दा उठाया, और कमरे से निकलकर भागा जैसे कोई पिस्तौल लेकर मारने को पीछे दौड़ रहा हो।

परन्तु अभी मकान की चहारदीवारी से बाहर न हुआ था कि दुर्भाग्य ने रास्ता रोक लिया। मालिक-मकान उस समय किसी ब्याह से वापस आ रहा था। उसने मुझे दौड़ते हुए देखा तो कड़ककर कहा, "कौन है?"

मेरा लहू सूख गया। कुछ उत्तर न सूझा। गिरफ़्तारी के भय ने मुँह बन्द कर दिया। मेरे चुप रहने से मालिक-मकान का सन्देह और भी बढ़ गया। ज़रा तेज़ होकर बोला, "तू कौन है?"

झूठ बोलना भी सहज नहीं। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है मैं अबके भी उत्तर न दे सका। मालिक-मकान मुझे गर्दन से पकड़ कर उसी कमरे में वापस ले गया, और मेरे हाथ में नोटों का पुलन्दा देखकर आगभभूका

हो गया। सहसा उसकी दृष्टि आलमारी की ओर गई, जो किसी के दुर्वासनामय हस्तक्षेपों का साक्ष्य थी। उसने मुझसे नोट ले लिये, और मेरे हाथ-पाँव बाँध कर मुझे एक कोने में डाल दिया। दूसरे दिन मुक़दमा पेश हुआ। मैंने प्रारम्भ ही में अपराध स्वीकार कर लिया। दो वर्ष कारावास का दण्ड मिला। परन्तु मेरे लिए वह दण्ड मृत्यु से कम न था। मेरी स्त्री और बच्चे का क्या होगा? जब यह विचार आता तो जिगर पर आरा चल जाता, कलेजे पर साँप लोट जाता। वहाँ ऐसे क़ैदियों की कमी न थी जो दिन-रात आनन्द से तानें लगाते रहते थे। वह हँस-हँस कर कहा करते थे, हम तो ससुराल आये हुए हैं। अफ़सरों की गालियाँ उनके लिए मा के दूध के समान थीं। मेरे लिए उनका सङ्गीत असह्य था। उनकी बातचीत मुझे विष में बुझे हुए बाणों के समान चुभती थी। मुझे उनकी आँखें देखकर बुख़ार चढ़ जाता था। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मुझे खा ही जायँगे। चिड़िया बाज़ों में फँसी थी।

इन भयङ्कर मनुष्यरूप भेड़ियों में रहकर ज्यों-त्यों करके दो वर्ष काट दिये, और घर की ओर चला। उस समय मेरे पाँव तेज़ थे, परन्तु हृदय उदास था। पता नहीं, स्त्री और बच्चे की क्या दशा है। मकान पर पहुँचकर मैं सन्नाटे में आ गया। मेरी स्त्री का पता न था। सहसा विचार आया, वह अपने पिता के घर चली गई होगी।

जमादार! मेरे पास कुछ रुपये थे, जो मुझे छूटते समय मिले थे। यही मेरी पूँजी थी। मैंने बच्चे के लिए कुछ खिलौने ख़रीदे। और भागा-भागा अपनी ससुराल पहुँचा। परन्तु निराशा मुझसे पहले पहुँच चुकी थी। मेरी स्त्री वहाँ भी न थी। मैंने चाव से ख़रीदे हुए खिलौने तोड़ डाले, और सिर में मिट्टी डाल ली।

छः मास का लम्बा समय मैंने उसकी खोज में बिता दिया। परन्तु उसका कोई पता न चला। मैं माँगकर पेट भर लेता, और फिर उसकी खोज में लग जाता। रस्सी जल चुकी थी, अब उसका बल भी जल गया। हार कर मैंने अपना नगर छोड़ दिया, और यहाँ आकर रहने लगा। मेरी आशायें मर चुकी थीं, मन टूट गया था। पाप ने सिर उठाया। कुछ लुच्चे-लफ़ंगे साथी मिल गये, मैं बहाव में बहने लगा।

जमादार ! मैं अब पहला विशनदास न था। मेरा हृदय धर्म को छोड़ कर अधर्म का अखाड़ा बन गया, पापों का भारी बोझ उस पर पड़ने लगा। इस पाप-भूमि की ओर देखकर कभी मेरा हृदय काँप जाता था। परन्तु अब ऐसा प्रतीत होता था, मानों इसके चप्पे चप्पे से मैं परिचित हूँ। मैं जुआ खेलता था, शराब पीता था, चोरी करता था, परन्तु लोग मुझे भलमंसी की मूर्ति कहते थे। पीतल पर सोने का मुलम्मा था।

रात का समय था। मैं शराब के मद में चूर सौन्दर्य के बाज़ार की ओर जा रहा था। वहाँ, जहाँ कटाक्ष बिकते हैं और कुलीनता के गले पर छुरी चलती है, जहाँ विनाश नाचता है और पाप जीवित जाग्रत रूप धारण करके तालियाँ बजाता है। रात अधिक चली गई थी। चारों ओर सन्नाटा था। सहसा एक मकान की बैठक से गाने की सुमधुर तानें सुनाई दीं। मैं तेज़ी से ऊपर चढ़ गया। परन्तु अभी कमरे में न पहुँचा था कि किसी ने कलेजे पर धधकते हुए अङ्गारे रख दिये। वह गानेवाली मेरी स्त्री थी, जिसने अपने सतीत्व को रुपयों का मोल बेच दिया था और मेरे सम्मान तथा मेरी कुलीनता को निर्दयता से पाँव तले कुचल डाला था। दूसरे दिन मैंने उसे क़त्ल कर दिया।

(६)

जमादार ! अब कहो, यदि मैं अदालत में यह देता कि यह मेरी विवाहिता स्त्री थी तो क्या क्रोध और आत्मसम्मान का उग्र, इस फाँसी की रस्सी को मेरे गले से वापस न खींच सकता था ? मुझे आठ-दस वर्ष का कारावास हो जाता, अथवा अधिक से अधिक काले-पानी का दण्ड हो जाता। यह सब सम्भव था, परन्तु क़ानून मुझे मृत्युदण्ड यथोचित नहीं दे सकता था। इसे मैं पूर्णतया समझता हूँ। परन्तु मेरे दिल ने इसे पसन्द नहीं किया कि मैं भरी-अदालत में अपनी स्त्री के पाप को प्रकट करके उसे कलङ्कित करूँ। और वैसे भी मेरा जी अब इस असार संसार से ऊब गया है। जीवन के थोड़े से वर्षों में बहुत कुछ देख लिया। अब शेष क्या है ? हाँ, तुमसे एक विनती करता हूँ। हो सके तो जो भारतीय लोग भूखे मरते हुए भी अपने बच्चों का ब्याह करना पुण्य समझते हैं, उनको जीते जी नरक में धकेल देते हैं, उनके विरुद्ध आवाज़ उठाना। मेरा

जीवन ऐसा दुःखमय न होता और मुझे इस यौवनकाल में डाकुओं और हत्यारों का-सा दण्ड न दिया जाता, यदि मेरे माता-पिता स्वयं भूखे मरते हुए भी मेरा ब्याह न कर देते, और फिर मुझे भी उसी गढ़े में न ढकेल देते। इस अपमृत्यु का कारण उन्हीं की मूर्खता है।

जमादार रोने लगा। यह विनती कैसी शोकमयी थी, मरते हुए युवक की अन्तिम अभिलाषा, टूटे हुए हृदय की करुणामय पुकार, परन्तु सचाई से भरपूर।

दिन के आठ बजे अभागे बिशनदास की लाश फाँसी पर लटक रही थी, परन्तु उसके टूटे हुए हृदय के शब्द अनन्तकाल तक गूँजते रहेंगे।

संन्यासी

(१)

लखनपाल, जिला गुजरात, का पाल्हू उन मनुष्यों में से था जो गुणों की गुथली कहे जाते हैं। यदि वह गाँव में न होता तो होलियों में झाँकियों का, दीवाली पर जुए का, और दशहरे पर रामलीला का प्रबन्ध कठिन हो जाता था। उन दिनों उसे खाने-पीने तक की सुधि न रहती और वह तन-मन से इन कार्यों में लीन रहता था। गाँव में कोई गानेवाला आ जाता तो लोग पाल्हू के पास जाते कि देखो कुछ राग-विद्या जानता भी है या यों ही हमें गँवार समझ कर धोखा देने आ गया है। पाल्हू अभिमान से सिर हिलाता और उत्तर देता, "पाल्हू के रहते हुए तो यह असम्भव है, पीछे की भगवान् जाने।" केवल गाना ही नहीं, वह बाँसुरी और घड़ा बजाने में भी पूरा उस्ताद था। हीर राँझे का किस्सा पढ़ने में तो दूर-दूर तक कोई उसके जोड़ का न था। दोपहर के समय जब वह पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ कर ऊँचे स्वर से जोगी और सहती के प्रश्नोत्तर पढ़ता तो सारे गाँव के लोग इकट्ठा हो जाते और उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते। उसके स्वर में जादू था। वह कुछ दिन के लिए भी बाहर चला जाता तो गाँव में उदासी छा जाती। पर उसके घर के लोग उसके गुणों को नहीं जानते थे। पाल्हू मन ही मन कुढ़ता पर बहुत

कूदता था। तीसरे पहर घर जाता तो मा ठण्डी रोटियाँ सामने रख देती। रोटियाँ ठण्डी होती थीं, परन्तु गालियों की भाजी गर्म होती थी। उस पर भावजें मीठे तानों से कड़वी मिर्च छिड़क देती थीं। पालू उन मिर्चों से कभी-कभी बिलबिला उठता था। परन्तु लोगों की सहानुभूति मिश्री की डली का काम दे जाती थी।

वे तीन भाई थे, सुचालू, बालू और पालू। सुचालू गवर्नमेंट-स्कूल, गुजरात, में ड्राइंग का मास्टर था, इसलिए लोग उसे सुचालामल के नाम से पुकारते थे। बालू दूकान करता था, उसे बालकराम कहते थे। परन्तु पालू की रुचि सर्वथा खेल-कूद ही में थी। पिता समझाता, मा उपदेश करती, भाई निठुर दृष्टि से देखते। मगर पालू सुना अनसुना कर देता और अपने रंग में मस्त रहता।

इसी प्रकार पालू की आयु के तेईस वर्ष बीत गये, परन्तु कोई लड़की देने को तैयार न हुआ। मा दुखी होती थी, मगर पालू हँस कर टाल देता और कहता, मैं ब्याह करके क्या करूँगा? मुझे इस बन्धन से दूर ही रहने दो। परन्तु विधाता के लेख को कौन मिटा सकता है। पाँच मील की दूरी पर टोंआ नामक ग्राम है। वहाँ के एक चौधरी ने पालू को देखा तो लट्टू हो गया। रूप-रङ्ग में सुन्दर था, शरीर सुडौल। जात-पात पूछ कर उसने अपनी बेटी ब्याह दी।

(२)

पालू के जीवन में पलटा आ गया। पहले वह दिन के बारह घण्टे बाहर रहता था और घर से ऐसा घबराता था, जैसे चिड़ियाँ पिंजरे से। परन्तु अब वही पिंजरा उसके लिए फूलों की वाटिका बन गया, जिससे बाहर पाँव रखते हुए उसका चित्त उदास हो जाता था। स्त्री क्या आई, उसका संसार ही बदल गया। अब उसे न बाँसुरी से प्रेम था, न किस्सों से प्रीति। लोग कहते, यार! कैसे जोरू-दास हो, कभी बाहर ही नहीं निकलते। हमारे सब साज-समाज उजड़ गये। क्या भाभी कभी कमरे से बाहर निकलने की भी आज्ञा नहीं देतीं। मा कहती, बेटा, ब्याह सबके होते आये हैं, परन्तु तेरे सरीखा निर्लज्ज

किसी को नहीं देखा कि दिन-रात स्त्री के पास ही बैठा रहे। पिता उसके मुँह पर उसे कुछ कहना उचित नहीं समझता था, मगर सुना कर कह दिया करता था कि जब मेरा ब्याह हुआ था तब मैंने दिन के समय तीन वर्ष तक स्त्री के साथ बात तक न की थी। पर अब तो समय का रंग ही पलट गया है। आज ब्याह होता है, कल घुल घुल कर बातें होने लगती हैं। पालू लाख अनपढ़ था, परन्तु मूर्ख नहीं था कि इन बातों का अर्थ न समझता। पर स्वभाव का बेपरवा था, हँस कर टाल देता। धीरे धीरे नौबत यहाँ तक पहुँची कि भाई-भावजें बात-बात में ताने मारने और घृणा की दृष्टि से देखने लगीं। मनुष्य सब कुछ सह लेता है, पर अपमान नहीं सह सकता। पालू भी बार-बार के अपमान को देख कर चुप न रह सका। एक दिन पिता के सामने जाकर बोला—"यह क्या रोज़ रोज़ ऐसा ही होता रहेगा?"

पिता भी उससे बहुत दुखी था, झल्ला कर बोला —

"तुम्हारे जैसों के साथ इसी तरह होना चाहिए।"

"पराई बेटी को विष खिला दूँ?"

"नहीं गले में डाल लो। जगत् में तुम्हारा ही अनोखा ब्याह हुआ है।"

पालू ने कुछ धीरज से पूछा—"आप अपना विचार प्रकट कर दें। मैं भी तो कुछ जान पाऊँ।"

"सारे गाँव में तुम्हारी मिट्टी उड़ रही है। अभी बतलाने की बात बाक़ी रह गई है?"

"पर मैंने ऐसी कोई बात नहीं की जिससे मेरी निन्दा हो।"

"सारा दिन स्त्री के पास बैठे रहते हो, यह क्या कोई थोड़ी निन्दा की बात है। तुम सुधर जाओ, नहीं सारी आयु रोते रहोगे। हमारा क्या है, नदी किनारे के रूख हैं, आज हैं, कल बह गये। परन्तु इतना तो सन्तोष रहे कि आँखों से अपने सब पुत्रों को कमाते खाते देख लिया।"

यह कहते कहते पिता के नेत्रों में आँसू भर आये। उसकी एक-एक बात जँची-तुली थी।

पालू को अपनी भूल का ज्ञान हो गया, सिर झुका कर बोला—"तो जो कहें वही करने को उद्यत हूँ।"

इतनी जल्दी काम बन जायगा, पिता को यह आशा न थी। प्रसन्न होकर कहने लगा—"जो कहूँगा, करोगे?"

"हाँ, करूँगा।"

"स्त्री को उसके घर भेज दो।"

पालू को ऐसा प्रतीत हुआ मानों किसी ने विष का प्याला सामने रख दिया हो। यदि उसे यह कहा जाता कि तुम घर से बाहर चले जाओ और एक-दो वर्ष वापस न लौटो तो वह सिर न हिलाता। परन्तु इस बात से, जो उसकी भूलों की निकृष्टतर स्वीकृति थी, उसके अंतःकरण को दारुण दुःख हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसका पिता उसे दण्ड दे रहा है और उससे प्रतिकार ले रहा है। वह दण्ड भुगतने को तैयार था, परन्तु उसका पिता इस बात को जान पाये, यह उसे स्वीकार न था। वह इसे अपने लिए अपमान का कारण समझता था। इसलिए कुछ क्षण चुप रह कर उसने क्रोध से काँपते हुए उत्तर दिया—

"यह न होगा।"

"मेरी कुछ भी परवा न करोगे?"

"करूँगा, पर स्त्री को उसके घर न भेजूँगा।"

"तो मैं भी तुम्हें पराँवठे न खिलाता रहूँगा। कल से किनारा करो।"

जब मनुष्य को क्रोध आता है, तो सबसे पहले जीभ बेक़ाबू होती है। पालू ने भी उचित-अनुचित का विचार न किया, अकड़ कर उत्तर दिया—"मैं इसी घर से खाऊँगा और देखूँगा कि मुझे चौके से कौन उठा देता है?"

बात साधारण थी, परन्तु हृदयों में गाँठ बँध गई। पालू को उसकी स्त्री ने भी समझाया, मा ने भी, पर उसने किसी की बात पर कान न दिया, और बे-परवाई से सबको टाल दिया। दिन को प्रेम के दौर चलते, रात को स्वर्ग-वायु के झकोरे आते। पालू की स्त्री की गोद में दो वर्ष का बालक खेलता था, जिस पर माता-पिता दोनों न्यौछावर थे। एकाएक उजाले में अन्धकार ने सिर निकाला। गाँव में विशूचिका का रोग फूट पड़ा, जिसका पहला शिकार पालू की स्त्री हुई।

(३)

पालू विलक्षण प्रकृति का मनुष्य था। धीरता और नम्रता उसके स्वभाव के

सर्वथा प्रतिकूल थीं। बाल्यावस्था में वह बे-परवा था। बे-परवाई चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। आठ-आठ दिन घर से बाहर रहना उसके लिए साधारण बात थी। फिर विवाह हुआ, प्रेम ने हृदय के साथ पाँवों को भी जकड़ लिया। यह वह समय था जब उसके नेत्र एकाएक बाह्य संसार की ओर से बन्द हो गये और वह इस प्रकार प्रेम-पाश में फँस गया जैसे शहद में मक्खी। मित्र-मण्डली नोंक-झोंक करती थी, भाई-बन्धु आँखों में मुसकराते थे, मगर उसके नेत्र और कान दोनों बन्द थे। परन्तु जब स्त्री भी मर गई तब पालू की प्रकृति फिर चञ्चल हो उठी। इस चञ्चलता को न खेल-तमाशे रोक सके, न मनोरञ्जक क़िस्से-कहानियाँ। यह दोनों रास्ते उससे पददलित किये जा चुके थे। प्रायः ऐसा देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ और मूर्ख लोग अपनी टेक का ज़्यादा ख़याल रखते हैं और इसके लिए तन-मन-धन तक न्योछावर कर देते हैं। पालू में यह गुण कूट-कूट कर भरा हुआ था। माता-पिता ने दोबारा विवाह करने की ठानी, परन्तु पालू ने स्वीकार न किया और उनके बहुत कहने-सुनने पर कहा कि जिस बन्धन से एक बार छूट चुका हूँ उसमें दोबारा न फँसूँगा। गृहस्थी का सुख-भोग मेरे प्रारब्ध में न था, यदि होता तो मेरी पहली स्त्री क्यों मरती? अब तो इसी प्रकार जीवन बिता दूँगा। परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक न रह सकी। तीन मास के अन्दर-अन्दर उसके माता-पिता दोनों चल बसे। पालू के हृदय पर दूसरी चोट लगी। क्रिया-कर्म से निवृत्त हुआ तो रोता हुआ बड़ी भावज के पाँवों में गिर पड़ा और बोला—"अब तो तुम्हीं बचा सकती हो, अन्यथा मेरे मरने में कोई कसर नहीं।"

भावज ने उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा—"मैं तुम्हें पुत्रों से बढ़कर चाहूँगी। क्या हुआ जो तुम्हारे माता पिता मर गये; हम तो जीते हैं।"

"यह नहीं, मेरे बेटे को सँभालो। मैं अब घर में न रहूँगा।"

उसकी भाभी अवाक् रह गई। पालू अब सम्पत्ति बाँटने के लिए झगड़ा करेगा, उसे इस बात की शङ्का थी। परन्तु यह सुनकर कि पालू घर-बार छोड़ जाने को उद्यत है, उसका हृदय आनन्द से झूलने लगा। मगर अपने हर्ष को छिपा कर बोली—

"यह क्या? तुम भी हमें छोड़ जाओगे तो तुम्हारा की यहाँ कैसे होगा?"

"नहीं, अब यह घर भूत के समान काटने दौड़ता है। मैं यहाँ रहूँगा तो जीता न बचूँगा। मेरे बच्चे के सिर पर हाथ रखना। मुझे न धन चाहिए, न सम्पत्ति। मैं सांसारिक धन्धों से मुक्त होना चाहता हूँ। अब मैं संन्यासी बनूँगा।"

यह कह कर अपने पुत्र कुन्दनलाल को पकड़ कर भावज की गोद में डाल दिया और रोते हुए बोला—'इसकी माँ मर चुकी है, पिता संन्यासी हो रहा है। परमात्मा के लिए इसका ध्यान न भुलाना।'

बालक ने जब देखा कि पिता रो रहा है तब वह भी रोने लगा और उसके गले लिपट गया, परन्तु पालू के पाँव को यह स्नेह रज्जु भी न बाँध सकी। उसने हृदय पर पत्थर रक्खा और अपनी शृङ्खला को ढीला कर लिया।

कैसा हृदयवेधक दृश्य था, सायङ्काल को जब पशुपक्षी अपने अपने बच्चों के पास घरों को वापस लौट रहे थे, पालू अपने बच्चे को छोड़ कर घर से बाहर जा रहा था!

(४)

दो वर्ष बीत गये। पालू की अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। वह पर्वत पर रहता था, पत्थरों पर सोता था, रात्रि को जागता था और प्रतिक्षण ईश्वर-भक्ति में मग्न रहता था। उसके इस आत्म-संयम की, सारे हृषीकेश में, धूम मच गई। लोग कहते, यह मनुष्य नहीं, देवता है। यात्री लोग जब तक स्वामी विद्यानन्द के दर्शन न कर लेते, अपनी यात्रा को सफल न समझते। उसकी कुटिया बहुत दूर पर्वत की एक कन्दरा में थी, परन्तु उसके आकर्षण से लोग वहाँ खिंचे चले आते थे। उसकी कुटिया में रुपये-पैसे और फल मेवे के ढेर लगे रहते थे। परन्तु वह त्याग का मूर्तिमान् रूप उनकी ओर आँख भी न उठाता था। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि उनके निमित्त स्वामीजी के बीसों चेले बन गये। स्वामीजी के मुख-मण्डल पर तेज बरसता था, जैसे सूरज से किरणें निकलती हैं। परन्तु इतना होते हुए भी मन को शान्ति न थी। बहुधा सोचा करते कि देश-देशान्तर में मेरी भक्ति की धूम मच रही है, दूर-दूर मेरे यश के डङ्के बज रहे हैं, मेरे संयम को देख कर बड़े-बड़े

महात्मा चकित रह जाते हैं, परन्तु मेरे मन को शान्ति क्यों नहीं? सोता हूँ तो सुख की निद्रा नहीं आती, जागता हूँ तो पूजा-पाठ में मन एकाग्र नहीं होता। इसका कारण क्या है? उन्हें कई बार ऐसा अनुभव हुआ कि चित्त में अशान्ति है। पर वह क्यों है, इसका पता न लगता।

इसी प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। स्वामी विद्यानन्द की कीर्ति सारे हृषीकेश में फैल गई, परन्तु इतना होने पर भी उनका हृदय शान्त न था। प्रायः उनके कान में आवाज़ आती थी कि तू अपने आदर्श से दूर जा रहा है। स्वामीजी बैठे-बैठे चौंक उठते, मानों किसी ने काँटा चुभो दिया हो। बार-बार सोचते, परन्तु कारण समझ में न आता। तब वे घबरा कर रोने लग जाते। इससे मन तो हलका हो जाता था, परन्तु चित्त को शान्ति फिर भी न होती। उस समय सोचते, संसार मुझे धर्मावतार समझ रहा है, पर कौन जानता है कि यहाँ आठों पहर आग सुलग रही है। पता नहीं, पिछले जन्म में कौन पाप किये थे जिससे अब तक आत्मा को शान्ति नहीं मिलती।

अन्त में उन्होंने एक दिन दण्ड हाथ में लिया और अपने गुरु स्वामी प्रकाशानन्द के पास जा पहुँचे। उस समय वे रामायण की कथा से निवृत्त हुए थे। उन्होंने ज्योंही स्वामी विद्यानन्द को देखा, फूल की तरह खिल गये। उनको विद्यानन्द पर गर्व था। हँस कर बोले—

"कहिए, क्या हाल है, शरीर तो अच्छा है?"

परन्तु स्वामी विद्यानन्द ने कोई उत्तर न दिया, और रोते हुए उनके चरणों से लिपट गये।

स्वामी प्रकाशानन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने सबसे अधिक माननीय शिष्य को रोते देख कर उनकी आत्मा पर आघात-सा लगा। उन्हें प्यार से उठा कर बोले, "क्यों कुशल तो है?"

स्वामी विद्यानन्द ने बालकों की तरह फूट-फूट कर रोते हुए कहा, "महाराज, मैं पाखण्डी हूँ। संसार मुझे धर्मावतार कह रहा है, परन्तु मेरे मन में अभी तक अशान्ति भरी हुई है। मेरा चित्त आठों पहर अशान्त रहता है।"

जिस प्रकार भले-चंगे मनुष्य को देखने के कुछ क्षण पश्चात् उसकी मृत्यु का समाचार सुन कर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्द को

अपने सदाचारी शिष्य की बात पर विश्वास न हुआ, और उन्होंने इस व्यंग्य से, मानों उनके कानों ने धोखा खाया हो, पूछा—"क्या कहा ?"

स्वामी विद्यानन्द ने सिर झुका कर उत्तर दिया, "महाराज, मेरा शरीर दग्ध हो गया है, परन्तु आत्मा अभी तक निर्मल नहीं हुई।"

"इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

"मैं प्रतिक्षण अशान्त रहता हूँ, मानों कोई कर्त्तव्य है जिसे मैं पूरा नहीं कर रहा हूँ।"

"इसका कारण क्या हो सकता है, जानते हो ?"

"जानता तो आपकी सेवा में क्यों आता ?"

एकाएक स्वामी प्रकाशानन्द को कोई बात याद आ गई। वे हँस कर बोले—"तुम्हारी स्त्री है ?"

"उसकी मृत्यु ही तो संन्यास का कारण हुई थी।"

"माता ?"

"वह भी नहीं।"

"पिता ?"

"वह भी मर चुके हैं।"

"कोई बाल-बच्चा ?"

"हाँ, एक बालक है, अब चार वर्ष का होगा।"

"उसका पालन कौन करता है ?"

"मेरा भाई और उसकी स्त्री।"

स्वामी प्रकाशानन्द का मुखमण्डल चमक उठा। हँस कर बोले:—

"तुम्हारी अशान्ति का कारण मालूम हो गया, हम कल तुम्हारे गाँव को चलेंगे।"

विद्यानन्द ने नम्रता से पूछा:—

"मुझे शान्ति मिल जायगी ?"

"अवश्य, परन्तु कल अपने गाँव की तैयारी करो।"

(२)

पालू के मित्रों में लाला गणपतराय का पुत्र भोलानाथ हौंढ़ा बड़ा सज्जन

पुरुष था। लखनवाल के लोग उसकी सज्जनता पर लट्टू थे। उसे पालू के साथ प्रेम था। उसके मन की स्वच्छता, उसका भोलापन, उसकी निःस्वार्थता पर भोलानाथ तन-मन से न्योछावर था। जब तक पालू लखनवाल में रहा, भोलानाथ ने सदैव उसकी सहायता की। वे दोनों जोहड़ के किनारे बैठते, धर्मशाला में जाकर खेलते, मन्दिर में जाकर कथा सुनते। लोग देखते तो कहते, कृष्ण-सुदामा की जोड़ी है। परन्तु कृष्ण के आदर-सत्कार करने पर भी जब सुदामा ने वन का रास्ता लिया तब कृष्ण को बहुत दुःख हुआ। इसके पश्चात् उनको किसी ने खुल कर हँसते नहीं देखा।

भोलानाथ ने पालू का पता लगाने की बड़ी चेष्टा की, परन्तु जब यत्न करने पर भी सफलता न हुई तब उसके पुत्र सुखदयाल की ओर ध्यान दिया। प्रायः बालकराम के घर चले जाते और सुखदयाल को गोद में उठा लेते, चूमते, प्यार करते, पैसे देते। कभी-कभी उठाकर घर भी ले जाते। वहाँ उसे दूध पिलाते, मिठाई खिलाते और बाहर साथ ले जाते। लोगों से कहते, यह अनाथ है, इसे देखकर मेरा हृदय वश में नहीं रहता। उनके पैरों की चाप सुन कर सुखदयाल के चेहरे पर रौनक आ जाती थी। उसके साथ चाचा-चाची घोर निर्दयता का व्यवहार करते थे, और भोलानाथ का उसे प्यार करना तो उन्हें और भी बुरा लगता था। प्रायः कहा करते, कैसा निर्दयी आदमी है, हमारी कन्याओं के साथ बात भी नहीं करता, कैसी गोरी और सुन्दर हैं, जैसे मक्खन के पेड़े, देखने से भूख मिटती है, परन्तु उसको सुखदयाल के सिवा कोई पसन्द ही नहीं आता। पसन्द नहीं आता, तो न सही, परन्तु क्या यह भी नहीं हो सकता कि कभी-कभी उनके हाथ पर दो पैसे ही रख दे, जिससे सुखदयाल के साथ उसका व्यवहार देखकर उनका हृदय तो न मुर्झा जाय। पर यह बातें भोलानाथ के सामने कहने का उन्हें साहस न होता था। हाँ, उसका क्रोध बेचारे सुखदयाल पर उतरता था, जल नीचे की ओर बहता है। परिणाम यह हुआ कि सुखदयाल सदैव उदास रहने लगा। उसका मुखकमल मुर्झा गया। प्रेम जीवन की धूप है, वह उसे प्राप्त न था। जब कभी भोलानाथ आता तब उसे पितृ-प्रेम का अनुभव होने लगता था।

लोहड़ी का दिन था, साँझ का समय। बालकराम के द्वार पर पुरुषों की भीड़ थी, आँगन में स्त्रियों का जमघट। कोई गाती थीं, कोई हँसती थीं, कोई

अग्नि में चावल फेंकती थीं, कोई चिड़वे खाती थीं। तीन कन्याओं के पश्चात् परमात्मा ने पुत्र दिया था। यह उसकी पहली लोहड़ी थी। बालकराम और उसकी स्त्री दोनों आनन्द से प्रफुल्लित थे। बड़े समारोह से त्यौहार मनाया जा रहा था। दस रुपये की मकी उड़ गई, चिड़वे और रेवड़ी इसके अतिरिक्त। परन्तु सुखदयाल की ओर किसी का भी ध्यान न था। वह घर से बाहर दीवार के साथ खड़ा लोगों की ओर लुब्ध दृष्टि से देख रहा था कि एकाएक भोलानाथ ने उसके कन्धों पर हाथ रख कर कहा, "सुक्खू!"

सूखे धानों में पानी पड़ गया। सुखदयाल ने पुलकित होकर उत्तर दिया, "चाचा!"

"आज लोहड़ी है, तुम्हारी ताई ने तुम्हें क्या दिया?"

"मकी"

"और क्या दिया?"

"और कुछ नहीं।"

"और तुम्हारी बहनों को?"

"मिठाई भी दी, संगतरे भी दिये, पैसे भी दिये।"

भोलानाथ के नेत्रों में जल भर आया। भर्राये हुए स्वर से बोले, "हमारे घर चलोगे?"

"चलूँगा।"

"कुछ खाओगे?"

"हाँ, खाऊँगा।"

घर पहुँच कर भोलानाथ ने पत्नी से कहा, इसे कुछ खाने को दो। भोलानाथ की तरह उनकी पत्नी भी सुखदयाल से बहुत प्यार करती थी। उसने बहुत-सी मिठाई उसके सम्मुख रख दी। सुखदयाल रुचि से खाने लगा। जब खा चुका तो चलने को तैयार हुआ। भोलानाथ ने कहा, "ठहरो, इतनी जल्दी काहे की है।"

"ताई मारेगी।"

"क्यों मारेगी?"

"कहेगी, तू चाचा के घर क्यों गया था?"

"तेरी बहनों को भी मार पड़ती है ?"

"नहीं, उन्हें प्यार करती है।"

भोलानाथ की स्त्री के नेत्र भर आये। भोलानाथ बोले, "जो मिठाई बची है वह जेब में डाल ले।"

सुखदयाल ने तृषित नेत्रों से मिठाई की ओर देखा और उत्तर दिया, "न।"

"क्यों ?"

"ताई मारेगी और मिठाई छीन लेगी।"

"पहले भी कभी मारा है ?"

"हाँ, मारा है।"

"कितनी बार मारा है ?"

"कई बार मारा है।"

"किस तरह मारा है ?"

"चिमटे से मारा है।"

भोलानाथ के हृदय पर जैसे किसी ने हथौड़ा मार दिया। उन्होंने ठंडी साँस भरी और चुप हो गये। सुखदयाल धीरे-धीरे अपने घर की ओर रवाना हुआ। परन्तु उसकी बातें ताई के कानों तक उससे पहले जा पहुँची थीं। उसके क्रोध की कोई थाह नहीं थी। जब रात्रि अधिक चली गई और गली मुहल्ले की स्त्रियाँ अपने अपने घर चली गईं तो उसने सुखदयाल को पकड़ कर कहा—"क्यों बे कलमुँहे, चाचा से क्या कहता था ?"

सुखदयाल का कलेजा काँप गया। डरते डरते बोला, "कुछ नहीं कहता था।"

"तू तो कहता था, ताई मुझे चिमटे से मारती है !"

बालकराम पास खड़ा था, आश्चर्य से बोला—"अच्छा, अब यह छोकरा हमारी मिट्टी उड़ाने पर उतर आया है।"

सुखदयाल ने आँखों ही आँखों ताऊ की ओर देखकर प्रार्थना की कि मुझे इस निर्दयी से बचाओ। परन्तु वहाँ क्रोध बैठा था। आशा ने निराशा का रूप धारण किया। ताई ने कर्कश स्वर में डाँट कर पूछा—

"क्यों, बोलता क्यों नहीं ?"

"अब न कहूँगा।"

"अब न कहूँगा। न मरता है, न पीछा छोड़ता है। खाने को देते जाओ, जैसे इसके बाप की जागीर पड़ी है।"

यह कह कर उसने पास पड़ा हुआ बेलन उठाया। उसे देखकर मुखदयाल बिलबिला उठा। परन्तु अभी उसके शरीर पर पड़ा न था कि उसकी लड़की दौड़ती हुई आई और कहने लगी, "चाचा आया है।"

(८)

सुखदेवी का हृदय काँप गया। वह बैठी थी, खड़ी हो गई और बोली, "कौन-सा चाचा? गुजरातवाला?"

"नहीं, पालू।"

सुखदेवी और बालकराम दोनों स्तम्भित रह गये। जिस प्रकार बिल्ली को सामने देखकर कबूतर सहम जाता है, उसी प्रकार दोनों सहम गये। आज से दो वर्ष पहले जब पालू साधु बनने के लिए बिदा होने आया था तब सुखदेवी मन में प्रसन्न हुई थी, परन्तु उसने प्रकट ऐसा किया था, मानो उसका हृदय इस समाचार से टुकड़े टुकड़े हो गया है। इस समय उसके मन में भय और व्याकुलता थी, परन्तु मुख पर प्रसन्नता की झलक थी। वह जल्दी से बाहर निकली और बोली "पालू।"

परन्तु वहाँ पालू के स्थान में एक साधु महात्मा खड़े थे, जिनके मुख-मण्डल से तेज की किरणें फूट-फूट कर निकल रही थी। सुखदेवी के मन में अचरज हुआ। परन्तु एकाएक ख्याल आया, यह तो वही है, वही मुँह, वही आँखें, वही रङ्ग, वही रूप, परन्तु कितना परिवर्तन हो गया है। सुखदेवी ने मुसकरा कर कहा, "स्वामीजी, नमस्कार करती हूँ।"

इतने में बालकराम अन्दर से निकला और रोता हुआ स्वामीजी से लिपट गया। स्वामीजी भी रोने लगे। परन्तु यह रोना दुःख का नहीं आनन्द का था। जब हृदय कुछ स्थिर हुआ तो बोले, "भाई, तनिक बाल-बच्चों को तो बुलाओ। देखने को जी तरस गया।"

सुखदेवी अन्दर को चली, परन्तु पाँव मन-मन के भारी हो गये। सोचती थी, यदि बालक सो गये होते तो कैसा अच्छा होता! सब बातें ढकी रहतीं।

अब क्या करूँ, इस बदमाश सुक्खू के वस्त्र इतने मैले हैं कि सामने करने का साहस नहीं पड़ता। आँखें कैसे मिलाऊँगी। रङ्ग में भङ्ग डालने के लिए इसे आज ही आना था। दो वर्ष बाद आया है। इतना भी न हुआ कि पहले पत्र ही लिख देता।

इतने में स्वामी विद्यानन्द अन्दर आ गये। पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था। परन्तु सुखदयाल और भतीजों के वस्त्र तथा उनके रूप-रङ्ग को देखा तो खड़े के खड़े रह गये। भतीजियाँ ऐसी थी जैसे चमेली के फूल और सुक्खू, वही सुक्खू, जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था, जिसकी बातें सुनने के लिए राह जाते लोग खड़े हो जाते थे, जिसकी नटखटी बातों पर प्यार आता था, अब उदासीनता की मूर्ति बना हुआ था। उसका मुँह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था, जिस प्रकार जल न मिलने से वृक्ष कुम्हला जाता है। उसके बाल रूखे थे, और मुँह पर दारिद्र्य बरसता था। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे जैसे किसी भिखारी का लड़का हो। स्वामी विद्यानन्द के नेत्रों में आँसू आ गये। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया, खिसियाने से होकर बोले, "कैसा शरारती है, दिन-रात धूल में खेलता रहता है।"

स्वामी विद्यानन्द सब कुछ समझ गये, परन्तु उन्होंने कुछ प्रकट नहीं किया और बोले, "मैं आज अपने पुराने कमरे में सोऊँगा, एक चारपाई डलवा दो।"

रात्रि का समय था। स्वामी विद्यानन्द सुक्खू को लिये हुए अपने कमरे में पहुँचे। पुरानी बातें ज्यों की त्यों याद आ गईं। यही कमरा था, जहाँ प्रेम के प्याले पिये थे। इसी स्थान पर बैठ कर प्रेम का पाठ पढ़ा था। यही वाटिका थी जिसमें प्रेम-पवन के मन्द झोंके चलते थे। कैसा आनन्द था, विचित्र काल था, अद्भुत वसन्त-ऋतु थी, जिसने शिशिर के झोंके कभी देखे ही न थे। आज वह वाटिका उजड़ चुकी थी, प्रेम का राज्य लुट चुका था। स्वामी विद्यानन्द के हृदय में हलचल मच गई।

परन्तु सुक्खू का मुख इस प्रकार चमकता था जैसे ग्रहण के पश्चात् चन्द्रमा। उसे देख कर स्वामी विद्यानन्द ने सोचा, "मैं कैसा मूर्ख हूँ, लाड़ और चाह जब इस पर सख्ती करते होंगे, जब अकारण इसको मारते-पीटते होंगे, जब इसके सामने अपनी कन्याओं से प्यार करते होंगे, उस समय यह क्या कहता होगा?

इसके हृदय में क्या विचार उठते होंगे ! यही कि मेरा पिता नहीं है, वह मर गया, नहीं तो मैं इस दशा में क्यों रहता। यह फूल था जो आज धूल में मिला हुआ है। इसके हृदय में धड़कन है, नेत्रों में त्रास है, मुख पर उदासीनता है। वह चञ्चलता जो बच्चों का विशेष गुण है, इसमें नाम को नहीं। वह हठ जो बालकों की सुन्दरता है, इससे विदा हो चुकी है। यह बाल्यावस्था ही में वृद्धों की नाईं गम्भीर बन गया है। इस अनर्थ का उत्तरदायित्व मेरे सिर है, जो इसे यहाँ छोड़ गया, नहीं तो इस दशा को क्यों पहुँचता ?" इन्हीं विचारों में झपकी आ गई तो क्या देखते हैं कि वही हृषीकेश का पर्वत है, वही कन्दरा। उसमें देवी की मूर्ति है और वे उसके सम्मुख खड़े रो-रो कर कह रहे हैं, "माता, दो वर्ष व्यतीत हो गये, अभी तक शान्ति नहीं मिली। क्या यह जीवन रोने ही में बीत जायगा ?"

एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पत्थर की मूर्ति के होंठ हिलते हैं। स्वामी विद्यानन्द ने अपने कान उधर लगा दिये। आवाज़ आई, " तू क्या माँगता है, यश ? "

"नहीं, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।"

"तो फिर जगत्-दिखावा क्यों करता है ?"

"मुझे शान्ति चाहिए।"

"शान्ति के लिए सेवा-मार्ग की आवश्यकता है। पर्वत छोड़ और नगर में जा; जहाँ दुखी जन रहते हैं, उनके दुःख दूर कर। किसी के घाव पर फाहा रख, किसी के टूटे हुए मन को धीरज बँधा। परन्तु यह रास्ता भी तेरे लिए उपयुक्त नहीं। तेरा पुत्र है, तू उसकी सेवा कर। तेरे मन को शान्ति प्राप्त होगी। "

यह सुनते ही स्वामीजी के नेत्रों से पर्दा हट गया। जागे तो वास्तविक भेद उन पर खुल चुका था कि मन की शान्ति कर्त्तव्य के पालन से मिलती है। उन्होंने सुखदयाल को ज़ोर से गले लगाया और उसके रूखे मुँह को चूम लिया।

स्त्री का हृदय

(१)

द्रौपदी हमारे गाँव में सबसे सुन्दर लड़की थी। बाल्यावस्था में मैं और वह वर्षों साथ खेले हैं। कैसे अद्भुत दिन थे, जीवन एक सुखमय फुलवाड़ी था, जिसमें शिशिर के विषैले झोंकों का प्रवेश तक न था। द्रौपदी उस फुलवाड़ी की फूल थी। उसे देख कर किसी को कल्पना भी न हो सकती थी कि वह गाँव की लड़की होगी। रूप-रंग से वह राजकुमारी मालूम होती थी; साफ़ निखरा हुआ रंग; बड़ी-बड़ी आँखें, गोल चन्द्रमा का-सा मुख और उस पर उसकी मधुर वाणी सोने में सुगन्ध थी। सारा दिन मैना की तरह बातें करती थी। उनको सुन कर राह चलते बटोही भी ठहर जाते थे। और, गाँववालों के लिए तो वह खिलौना थी। एक दिन हमारे गाँव में एक धनाढ्य पुरुष घूमते हुए आ निकले। उनके साथ लड़कियों की पल्टन थी। उनकी तड़क-भड़क और सौन्दर्य देख कर गाँव के लोग उनके पास जाते हुए डरते थे। परन्तु द्रौपदी उनमें इतनी जल्दी घुल-मिल गई जैसे वर्षों की जान-पहचान हो। उन लड़कियों ने गाँव में कुछ दिन चहल-पहल रखी। परन्तु द्रौपदी के सामने आकर उनकी सुन्दरता क्षीण हो जाती थी, जिस तरह सूर्य के सामने तारे फीके पड़ जाते हैं।

मेरी उमर उन दिनों बहुत थोड़ी थी, परन्तु द्रौपदी में मुझे एक मोहनी-

शक्ति प्रतीत होती थी। मैं उसके बिना रह नहीं सकता था। बचपन में किसी को खिलौने पसंद होते हैं, किसी को चित्र, परन्तु मेरा मन उनमें से किसी को भी नहीं चाहता था। मुझे द्रौपदी और केवल द्रौपदी का ध्यान था। यदि बाल्यावस्था में प्रेम आसक्तिदोष न समझा जाये, तो मुझे यह कहने में तनिक भी झिझक नहीं कि मुझे उससे अनिर्वचनीय प्रेम था। मैं उसके मुख को घण्टों देखता रहता था, और समझता था कि यह अधिकार केवल मुझी को प्राप्त है। इस विचार से मेरा हृदय चाँदनी रात की नाईं खिल जाता था। मनुष्य बाल्यावस्था में सैकड़ों भूलें करता है, यह भी उनमें से एक थी।

(२)

कई वर्ष बीत गये। मैंने मिडल की परीक्षा पास कर ली और हाई स्कूल में प्रविष्ट होने के लिए घर से चला। उस समय मेरा मुख उदास था, हृदय दुःखी। रह-रह कर सोचता था, कि क्या अब द्रौपदी का प्यारा-प्यारा मुखड़ा दिखाई न देगा? क्या उसकी मधुर वाणी सुनाई न देगी? मैं सदा उसके साथ खेलता था। उसे कहानियाँ सुनाता था, चित्र दिखाता था। वह मेरी प्रतीक्षा में अपने द्वार पर खड़ी रहती थी। उसे देख कर मैं झूमने लगता था, और यदि वह दिखाई न देती तो मेरी आँखों में संसार अंधकारमय हो जाता था। मुझे कभी ख्याल भी न था कि मैं उसके बिना रह सकूँगा। पर अब क्या होगा? मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। सोचा, मेरे साथ कई लड़के पढ़ते थे जो फ़ेल हो गये हैं; कदाचित् मैं भी फ़ेल हो जाता तो यह दिन न देखना पड़ता। उस समय मुझे उनके दुर्भाग्य पर डाह होता था। दुःख और सुख हृदय की अवस्था पर निर्भर है।

मैं स्कूल में भर्ती हुआ, परन्तु आठों पहर उदास रहने लगा। बोर्डिंगहाउस का प्रबन्ध अत्युत्तम था। दूसरे विद्यार्थी इस प्रकार उछलते फिरते थे जैसे स्वतन्त्र पक्षी फूलों की टहनियों पर खेलते हैं। परन्तु वह स्थान मेरे लिए जेल से कम न था। मैं चाहता था, कि यदि पंख मिलें तो उड़ कर अपने गाँव पहुँच जाऊँ और द्रौपदी को हृदय से लगा लूँ। परन्तु यह कैसे हो सकता था? द्रौपदी थोड़ी-सी हिन्दी जानती थी। एक दिन विचार आया कि क्यों न मैं उसे एक पत्र लिख

कर विरहानल को ठण्डा कर लूँ। पानी ने एक रास्ता बन्द पा कर दूसरा मार्ग ग्रहण किया। मैंने पत्र लिखा और उसमें कलेजा निकाल कर रख दिया। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी वार्षिक परीक्षा में पर्चा भी न लिखता होगा। यह मेरे जीवन की परीक्षा थी। कुछ दिन पा कर मेरे पिता का पत्र आया। द्रोपदी का पत्र उनके पास पहुँच गया था। मेरा सिर चकराने लगा; मैं फेल हो गया था। उस रात मेरी आँखों में नींद न थी। इस प्रकार तड़पता था जैसे मछली गरम रेत पर तड़पती है। कभी सोचता, पिता को झाड़ लिख भेजूँ। कभी विचार होता, चल कर पाँवों पर सिर रख दूँ, फिर भी पिता हैं, कलेजा पत्थर का कैसे करेंगे। कभी सोचता, आत्महत्या कर लूँ, इस जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है। फिर विचार आता द्रौपदी को तो मुझसे प्रेम है। यदि उसके पास संदेशा भेज दूँ तो वह निस्सन्देह घर-बार छोड़ कर मेरे साथ चल खड़ी होगी। परन्तु अन्त में सब विचार नदी के बुदबुदों के समान अस्त-व्यस्त हो गये, जो जितनी जल्दी बनते हैं उतनी ही जल्दी टूट जाते हैं। मैं रो-धो कर चुप हो रहा, और प्रार्थना करने लगा कि परमात्मा, मेरी मनोकामना पूरी कर। निराश्रयों का इसके सिवा और आश्रय ही कौन-सा है?

दो वर्ष का अल्पकाल, जिसे प्रेम की विकलता ने दो सौ वर्ष बना दिया था, समाप्त हुआ, और मैं एन्ट्रेंस की परीक्षा देकर घर चला। इस समय हृदय में सैकड़ों विचारों की बाढ़ आ रही थी। द्रौपदी को देखने के चाव में उमंगों के आकाश पर उड़ा चला जाता था; परन्तु गाँव आने न पाता था। मैं बार-बार झुँझला उठता था, कि गाँव दूर-दूर क्यों होता जा रहा है। परन्तु वहाँ पहुँच कर हृदय बैठ गया। जिस प्रकार मंजिलें मार-मार कर यात्री स्टेशन पर पहुँचे, और उसे मालूम हो कि गाड़ी निकल गई है। उस समय उसके हृदय पर क्या कुछ बीतती है। भाग्य को कोसता है और कलेजा मल-मल कर रह जाता है। यही अवस्था मेरी थी। घर पहुँच कर सबसे पहला समाचार यह सुना, कि द्रौपदी का ब्याह हो गया है। मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ। क्या-क्या उमंगें थीं, क्या क्या कामनायें? सब पर पानी फिर गया। अब मेरे चारों ओर अंधकार ही अंधकार था।

(२)

मैं नहीं कह सकता, इस चोट को मैंने किस प्रकार सहन किया। परन्तु इतना स्मरण है कि मेरे सिर पर कई मास तक एक प्रकार का पागलपन सवार रहा। मुझे भ्रान्ति होने लगी कि मेरा मस्तिष्क बिगड़ जायगा। स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था, चित्त सदैव उदास रहने लगा। किसी काम में जी न लगता था। रात को नींद न आती थी। बैठे-बैठे चौंक उठता था। सुहृद्-मित्र कहते, कैसे मूर्ख हो, अब यदि एक स्त्री नहीं मिली तो क्या प्राण दे दोगे। मैं उनके कथन की सचाई को अनुभव करता था, परन्तु मन वश में न था। उस पर उनके कथन का भी कुछ प्रभाव न होता था।

परन्तु द्रौपदी की दशा मुझसे विपरीत थी। विवाह के पश्चात् उसने मुझे भुला दिया था, और सच्चे हृदय से अपने पति की सेवा में मग्न हो गई थी। वह उसकी पूजा करती थी, और उसी को अपने जीवन का सर्वस्व समझती थी। उसका विवाह पास के एक गाँव में हुआ था। लड़का बहुत ही सुन्दर और पढ़ा-लिखा था। इतना ही नहीं, उसे भी द्रौपदी से प्रेम था। वह मेरा प्रतिद्वन्द्वी न होता, तो मैं उसकी प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर देता। और अब भी उसका विरोध करने को जी न चाहता था। उसके गुणों ने मेरा मुँह बन्द कर दिया था। मैंने दूसरा ब्याह स्वीकार न किया और मन को दूसरी ओर लगाये रखने के लिए साहुकारा आरम्भ कर दिया।

एक दिन दोपहर के समय मैं अपनी दूकान के सामने चारपाई डाले हिसाब-किताब कर रहा था, कि सामने से कोई लड़की जाती हुई दिखाई दी। मेरी आँख हठात् उसकी ओर उठ गई। कलेजा धड़कने लगा; यह द्रौपदी थी। परन्तु उसकी अवस्था कैसी बदल गई थी। उसके मुख पर वह लाली न थी, नेत्रों में वह तेज न था, होठों पर वह मुस्कुराहट न थी। निराशा की मूर्ति इससे अधिक करुणामय किसी चित्रकार ने भी न बनाई होगी। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। कभी वह वसन्त की माधवी छवि थी, पर अब शिशिर की मूर्ति। मैं सोचने लगा, इसका कारण क्या हो सकता है? संध्या के समय उसके भाई से पूछा, "प्यारेलाल! तुम्हारी बहन का क्या हाल है?"

प्यारेलाल ने रुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया "अब तुमसे क्या छिपाऊँ, शम्भुनाथ ने दूसरा ब्याह कर लिया है।"

मैं यह सुन कर उछल पड़ा, "क्या कहा, दूसरा ब्याह?"

"हाँ, दूसरा ब्याह।"

मैंने उसे चारपाई पर स्थान देते हुए सहानुभूति के भाव से पूछा, "शम्भुनाथ की आँखों पर यह पर्दा कैसे पड़ गया?"

प्यारेलाल की आँखों में आँसू भर आये। उन्हें पोंछते हुए बोला "पेशावर के एक धनाढ्य सेठ ने उसे अपनी इकलौती बेटी ब्याह दी है। परन्तु शर्त यह है कि द्रौपदी को छोड़ दे। शम्भुनाथ ने यह देख कर कि ससुर की मृत्यु पर उसकी संपत्ति का वही अधिकारी होगा, यह शर्त स्वीकार कर ली है।"

मैंने ठण्डी साँस भरी और उत्तर दिया, "इस सेठ ने तुम लोगों से कब का बैर निकाला?"

"राम जाने, हमने तो कभी किसी का बुरा नहीं किया।"

"तो अब द्रौपदी का क्या हाल है?"

"जबसे आई है, बराबर रो रही है। उसका मुख पहले की अपेक्षा आधा भी नहीं रहा।"

"स्त्री के लिए इससे अधिक विपत्ति क्या हो सकती है?"

"परमात्मा यह दिन बैरी को भी न दिखाये।"

मुँह से तो यह शब्द कह दिये, परन्तु मन में ऐसा प्रसन्न था, जैसे कोई रण मार लिया हो। प्यारेलाल के चले जाने पर मेरे मुख पर एक दानवी चमक थी। सोचा कि अब उसे पता लगेगा कि किसी का दिल तोड़ा जाये तो क्या होता है। रूप-रङ्ग पर रीझ गई थी। परन्तु यह पता न था कि रस में विष भरा है। अब आयु-भर बैठी रोती रहेगी।

(४)

परन्तु कुछ समय पा कर मेरी सहानुभूति द्रौपदी के साथ बढ़ने लगी। अब वह रोती नहीं थी। समय उसके घावों के लिए मरहम बन गया था। प्रायः कहा करती कि जो विपत्ति मुझ पर पड़ी है, जब इसे सहन ही करना है, तो हँस कर

क्यों न किया जाय। रोने से यह बोझ हलका तो नहीं हो सकता। पर दिन-रात घर के काम काज में लगी रहती थी। दोपहर को थोड़ा-सा अवकाश मिलता तो रामायण ले बैठती, और गाँव की लड़कियों को पढ़ कर सुनाती। उसकी वाणी में जादू था, शब्दों में रस। पहले-पहल लड़कियों की संख्या थोड़ी थी, परन्तु धीरे धीरे वह संख्या बढ़ने लगी। और अन्त में तो इतनी भीड़ होने लगी कि लगभग गाँव की सारी स्त्रियाँ एकत्री होने लगी। यदि किसी दिन द्रौपदी कथा न कर सकती तो उनका दिन आनन्द से न व्यतीत होता था, जैसे भाँग पीनेवाले को भाँग न मिली हो। द्रौपदी अब देवी दिखाई देती थी। उसके मुखमण्डल पर शान्ति की झलक थी, नेत्रों में भक्ति का रङ्ग। उसे देख कर गाँव के लोग श्रद्धा से सिर झुका लेते थे। और मैं तो ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता था। अब उसका प्रेम सांसारिक वासनाओं से शून्य होता जाता था, जैसे सोना अग्नि में पड़ कर कुन्दन हो जाता है। उसे देख कर लोग शम्भुनाथ के दुर्भाग्य पर शोक प्रकट करते थे। कहते, कैसा मूर्ख है जो इसको छोड़ कर धन के पीछे भाग रहा है। ऐसी देवियाँ तो स्वयं लक्ष्मी का रूप हैं। परन्तु अब द्रौपदी को इसकी परवा न थी। वह अपने ब्याह को मानों भूल गई थी। संसार से विमुख होकर परलोक सँवारने की चिन्ता में थी।

उसके इन गुणों ने उसके लिए मेरी सहानुभूति बढ़ा दी थी। एक दिन वह था, जब मैं उसके दुर्भाग्य पर प्रसन्न हुआ था। परन्तु अब उसे दुःख में देख कर मेरे आँसू निकल आते थे।

(५)

एक दिन प्रातः काल मैं कुएँ पर नहा रहा था कि एक नवयुवक मेरे पास से गुज़रा। उसका चेहरा परिचित-सा जान पड़ता था। मैंने अच्छी तरह देखा, तो चौंक पड़ा। वह शम्भुनाथ था। परन्तु क्या ठाट-बाट था, सिर पर बनारसी साफ़ा, हाथों में अँगूठियाँ, कँधों पर क़ीमती चादर। उसे देख कर ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई राजकुमार है। मेरे हृदय पर साँप लोट गया। मैंने बिना किसी प्रकार की भूमिका के कहा "तुम ही शम्भुनाथ हो क्या ?"

शम्भुनाथ इस प्रश्न के लिए तैयार न था, आश्चर्य से बोला, "जी हाँ, क्या आज्ञा है?"

मैंने घृणा से उसकी ओर देखा, और उत्तर दिया, "कभी तुम्हें द्रौपदी भी याद आती है या नहीं?"

डाक्टर के मुख से मृत्यु का समाचार सुन कर जो दशा रोगी की होती है, वही दशा शम्भुनाथ की इस प्रश्न से हुई। मुख पर मुर्दनी छा गई। कुछ देर तो वह चुप रहा, फिर धीरे से बोला, "तुम्हें इस प्रश्न का क्या अधिकार है?"

मेरे तन में आग-सी लग गई। मैंने चिल्ला कर कहा, "मुझे इसका अधिकार है। तुम्हें एक स्त्री के जीवन को नष्ट करने का अधिकार है, परन्तु मुझे इस विषय में एक प्रश्न पूछने का भी अधिकार नहीं?"

शम्भुनाथ के माथे पर बल पड़ गये, "तुमने शराब तो नहीं पी ली है? बहकी-बहकी बातें करते हो।"

"कंगाल का बेटा राज-गद्दी पर बैठ गया। अब उसकी बुद्धि क्यों कर ठीक रह सकती है।"

"मैं तुम्हारा नशा उतार दूँगा।"

"बात करते लज्जा नहीं आती? आदमी होते तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरते। तुमने वह पाप किया है, जिसका प्रायश्चित्त नहीं।"

शम्भुनाथ अब न सह सका। उसने आगे बढ़ कर मेरी गर्दन पकड़ ली और कनपटी पर दो मुक्के मारे। मैं बालकपन ही से व्यायाम करता था। मेरी शारीरिक अवस्था बहुत अच्छी थी। परन्तु शम्भुनाथ के मुक्के मुक्के नहीं थे, हथौड़े थे। मैं मूर्च्छित हो गया।

जब मुझे सुधि आई, तो मेरे सिर पर पट्टी बँधी थी, और मैं चारपाई पर लेटा था। घटना को स्मरण करके मेरी आँखों से आग के चिंगारे निकलने लगे। मैंने उसी अवस्था में चिल्ला कर कहा, "मैं उसे इसका मज़ा चखा कर छोड़ूँगा।"

कुछ दिन के बाद मैं नीरोग हो गया। उस समय मेरी प्रतिज्ञा गाँव में दावानल की भाँति फैल चुकी थी। लोग मेरे स्वभाव को भली भाँति जानते थे। वह जानते थे कि जब मैं कोई प्रतिज्ञा कर लेता हूँ, तो फिर

उसे पूरा किये बिना नहीं रहता। इसलिए किसी को साहस न होता था कि मुझे समझाने का प्रयत्न करे। मैं तैयारियों में लीन हो गया। इस जोश से किसी सेनापति ने शत्रु के देश पर चढ़ाई न की होगी। मैं एक छुरा लेकर शम्भुनाथ के गाँव की ओर चला। कलेजा धड़क रहा था, तथापि मैं आगे चलता गया, और उसके मकान पर जा पहुँचा। रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। सारा गाँव अचेत पड़ा सो रहा था। मैंने शम्भुनाथ के दरवाजे पर धीरे से हाथ मारा। कुछ क्षण के पश्चात् दरवाज़ा खुल गया। मैं लड़खड़ाते पैरों से आगे बढ़ा। दरवाज़ा खोलने-वाले ने कोई शोर न किया। उसकी जीभ को मेरे रुपये ने खरीद लिया था। मैं पैंतरा बदलता हुआ उस कमरे में पहुँचा जहाँ शम्भुनाथ सो रहा था। मेरा संकल्प डोल गया। सहसा विचार आया, यही मनुष्य है जिसने मेरा और मेरी प्यारी द्रौपदी का जीवन नष्ट कर दिया है, अन्यथा हम इस समय इस दशा में न होते। गिरती हुई दीवार थम गई। मैंने छुरे की धार को देखा। मन को पक्का किया, हाथ उठाया, और शम्भुनाथ की छाती पर चढ़ बैठा। शम्भुनाथ की आँखें खुल गईं, मृत्यु उसके सामने खड़ी थी। उसने भर्राए हुए स्वर से कहा "परमात्मा के लिए यह न करो।"

मेरे क्रोध के ईंधन पर तेल पड़ गया। मैंने दाँत पीस कर कहा "अब किसी को बुलाना हो तो बुला लो।"

"ओह! परमात्मा के लिए मुझे न मारो।"

इन शब्दों में करुणा थी, परन्तु मेरा हृदय न पसीजा। मेरे सम्मुख केवल एक विचार था कि इसने दो जीवन नष्ट किए हैं। मेरा हृदय बहुत कोमल है, परन्तु वह इस समय रक्त-पिपासु भेड़िया बन रहा था। मैंने उसकी सिसकों पर ध्यान न दिया, और हाथ ऊँचा किया। शम्भुनाथ ने डर से आँखें बन्द कर लीं। मेरा हाथ चलने को था कि एकाएक किसी ने छुरे को पीछे से खींच लिया।। मैं घबरा कर शम्भुनाथ की छाती से उतरा और भयभीत होकर बोला "कौन?"

"द्रौपदी।"

मैं अवाक् रह गया। मुझे पहले विश्वास न हुआ कि मैं जाग रहा हूँ। किसे कल्पना हो सकती है कि अँधेरी रात में एक स्त्री इतनी दूर चल कर अपनी जान जोखों में डाल कर उस आदमी को बचाने का साहस करेगी, जिसने बिना

किसी अपराध के उसके जीवन के सम्पूर्ण सुख नष्ट कर दिये हों। मैं अपने आपको भूल गया। संसार में प्रतिकार-पिपासुओं की कमी नहीं, दुष्ट स्वार्थियों की कमी नहीं। परन्तु ऐसे लोग कितने हैं, जो अपने साथ बुराई करनेवालों के साथ भलाई पर उद्यत हो सकते हैं। मैंने झुक कर द्रौपदी के पैरों को हाथ लगाया और कहा "देवी ! तू धन्य है।"

(६)

चालीस वर्ष बीत गये। यौवन के दुर्ग में बुढ़ापा आ पहुँचा। परन्तु, द्रौपदी के नियम में अन्तर न था। वह अब भी उसी प्रकार प्रातःकाल माला फेरती थी, दोपहर को रामायण की कथा करती थी। उसकी कमर झुक गई थी। दृष्टि क्षीण हो रही थी। प्रायः दिन भर घर ही में पड़ी रहती थी। इस आयु में स्त्रियाँ घरवालों के लिये बोझ हो जाती हैं। परन्तु द्रौपदी की यह दशा न थी। उसकी आत्मा ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली थी। उसका सम्मान गाँव के बच्चे बच्चे के हृदय में था।

सावन के दिन थे। नदी-नालों में बाढ़ आई हुई थी। मैं किसी आवश्यक काम से शम्भुनाथ के गाँव में चला गया था। वहाँ उसकी दशा देखी, तो संसार की क्षण-भंगुरता आँखों के सामने फिर गई। अब न उसके मकान थे, न कार-व्यवहार। जो कभी रुपयों में खेलता था, अब वह कौड़ी कौड़ी के लिए तरसता था। और इतना ही नहीं, उसकी स्त्री और श्वसुर भी मर चुके थे। अब वह था, और उसका छोटा बच्चा, जैसे तूफ़ान में किसी ने नौका पर भारी पत्थर रख दिये हों। वह दिन भी स्मरण रहेंगे, जब शम्भुनाथ इस छोटे-से बालक को कंधों पर उठाये फिरता था। इस समय उसके मुख पर कैसी दीनता थी, नेत्रों में कैसी उदासी। मेरे कलेजे पर बरछियाँ चल जाती थीं। कभी मुझे उससे द्वेष था, उस समय वह सुखी था, परन्तु मैं दुखी। मगर अब वह भी नष्ट हो चुका था। दोनों एक ही बाण के घायल थे, एक ही रोग के रोगी। मुझे उससे सहानुभूति हो गई। अंततः उसके दुःखमय जीवन का अंतिम दिन आ पहुँचा।

प्रातःकाल था। वह एक अँधेरी कोठरी में तड़प रहा था। परन्तु प्राण न निकलते थे। वह बार बार अपने छोटे बच्चे की ओर देखता था, और काँप काँप-

कर रह जाता था। कदाचित् सोचता था, कि मेरे पीछे इसको कौन सँभालेगा?

एकाएक दरवाज़ा खुला, और बूढ़ी द्रौपदी लाठी लिये कमरे के अन्दर आई। उस समय उसके कपड़े पानी में भीग रहे थे, शरीर मिट्टी में लथपथ था। परन्तु उसे इसकी परवा न थी। वह सीधी शम्भुनाथ के पास गई, और उस पर झुक कर बोली "क्यों? राम का नाम लो।"

आवाज़ प्यार से भरी हुई थी। शम्भुनाथ ने रोकर कहा "मेरा बच्चा!"

द्रौपदी ने बच्चे को उठा कर छाती से लगा लिया, और उत्तर दिया "यह मेरे प्राणों के साथ रहेगा।"

"हूँ।"

"चिन्ता न करो। राम राम कहो, राम राम।"

दूसरे क्षण में शम्भुनाथ के प्राण निकल गये। द्रौपदी की आँखों में आँसू भर आये। इतने में द्रौपदी का भाई प्यारेलाल क्रोध से काँपता हुआ कमरे में आया, और बोला "मैं तुमसे अलग हो जाऊँगा, नहीं तो इस बच्चे को फेंक दो।"

परन्तु द्रौपदी ने उसे गले से लगा लिया, और कहा "यह नहीं होगा।"

"तो यही अंतिम निश्चय है?"

"अंतिम।"

"अच्छा मेरे घर में न आना।"

"न आऊँगी। मेरा परमात्मा है। जिसने इस बच्चे के लिए मुझे भेजा है, वह मेरे लिए भी किसी को भेज देगा। और यदि न भेजेगा, तो न सही। मैं भूखों मरना स्वीकार करूँगी, परन्तु उनकी आत्मा को दुःख न पहुँचाऊँगी।"

मेरी आँखें खुल गईं। स्त्री का हृदय इतना ऊँचा, इतना उदार हो सकता है, इसकी आशा न थी। स्त्री युवावस्था में अपने पति के लिए प्राण तक निछावर कर देती है। उस समय उसका रक्त गर्म होता है। परन्तु बुढ़ापे में पति की अंतिम चितवन को शान्ति की अवस्था में देखने के लिए अपने आपको जोखों में डाल देना कठिन है। मैं रोता हुआ आगे बढ़ा और बोला—

"देवी! चिन्ता न कर, तेरे और तेरे बच्चे के लिए मेरे पास बहुत कुछ है।"

उसने मेरी ओर देखा। परन्तु मुँह से कुछ न कहा। मेरी आँखों में उसका सम्मान ऐसा कभी न था।

लोकाचार

(१)

एकोनोमिकल प्रेस के सुविशाल आँगन में लाला धनीराम भल्ला बैठे लेखा-पत्रा देख रहे थे, और मन में प्रसन्न हो रहे थे। इस समय उनका मुँह अनार के दाने के समान लाल हो रहा था, होंठों पर मुस्कराहट इस प्रकार खेलती थी जिस प्रकार लाल बादलों में बिजली। आज से दो वर्ष पहले जब उन्होंने यह काम आरम्भ किया था, उनका मन आशा और निराशा से दोलायित हो रहा था, जैसे नौका जल के प्रवाह में हिचकोले खाने लगती है। उन दिनों उनकी स्टेशनरी की दूकान थी। उससे वे अपना निर्वाह करते थे, उसी से थोड़ा थोड़ा बचाते जाते थे। यहाँ तक कि उनके पास तीन हज़ार रुपया जमा हो गया। मित्रों ने सलाह दी, रोहतक में प्रिंटिंग प्रेस की अत्यन्त आवश्यकता है, सारे ज़िले का काम देहली जाता है। यदि साहस करके एक छोटा सा प्रेस खड़ा कर दो तो दिनों में बन जाओगे। धनीराम की इच्छा न थी कि इस जंजाल में फँसें, परन्तु मित्रों के आग्रह ने विवश कर दिया। दूकान बन्द करके प्रेस खोल दिया। ये बड़े परिश्रमी और मितव्ययी थे, आरम्भ ही में लाभ होने लगा। परन्तु उनका ध्यान लाभ से भी बढ़ कर अपने प्रेस की ख्याति का था। प्रायः कहा करते कि काम की सफ़ाई और उत्तमता ही सबसे अच्छा विज्ञापन

है। इस सफ़ाई के लिए उन्होंने कई बार छपे हुए फ़ार्म रद्दी कर दिये। कई बार लिखी हुई कापियाँ फाड़ डालीं, परन्तु प्रेस की ख्याति पर कोई कलंक न लगने दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रेस दूर दूर तक प्रसिद्ध हो गया। धनीराम की आय बढ़ने पर उन्हें मकान की आवश्यकता पड़ी। धनीराम के पास पाँच सहस्र रुपया था, उनकी पत्नी के पास दो सहस्र रुपये के आभूषण थे। सब रुपया मकान पर लगा दिया, परन्तु फिर भी काम न चला। पाँच सहस्र रुपया उधार लेना पड़ा। मकान बना, और बहुत-बढ़िया बना। लाला धनीराम अपना प्रेस उसी में ले आये। और एक वर्ष के अन्दर अन्दर ऋण चुका दिया। आज वही दिन था। धनीराम के हृदय में प्रसन्नता थी, नेत्रों में हँसी। कभी मकान को देखते, कभी प्रेस को, और फूले न समाते। सोचते, कैसे शुभ लग्न में इस कार्य में हाथ लगाया था, पौ बारह हो गये, नहीं तो इसी प्रेस के फेर में सैकड़ों का दीवाला निकल गया। मैं किस योग्य हूँ, यह सब परमात्मा की कृपा है। घर में एक स्त्री है, दो विधवा बहिनें, उनका पालन भी उसी को करना है। यह वसीला बन गया है, चार दिन सुख से कट जायँगे, नहीं तो कष्ट से निर्वाह होता था। वे आनन्द में मतवाले होकर झूमने लगे। इस समय साँझ हो चली थी।

कुछ देर बाद उन्होंने कोट पहना। बूट के तस्मे बाँधे और छड़ी हाथ में लेकर बाहर जाने को तैयार हुए, कि चपरासी ने आकर कहा "सेठ हरद्वारीलाल आये हैं।"

(२)

लाला धनीराम चौंक पड़े। सेठ हरद्वारीलाल रोहतक के सबसे बड़े रईस थे, युवावस्था, तीस वर्ष की आयु। नगर के बाहर कचहरी रोड पर उनकी कोठी थी। वे केवल धनाढ्य ही न थे, उनका हृदय सज्जनता की सम्पत्ति से भी भरपूर था। वे निर्धन जनों की सहायता करना अपना धर्म समझते थे। बीसियों विधवाओं को मासिक देते थे। मुसाफ़िरों के सुख के लिए स्टेशन के पास पचास सहस्र रुपये के ख़र्च से एक सराय बनवाई थी। और इतना ही नहीं, सभा-सोसायटियों को भी आये दिन कुछ न कुछ दान करते ही रहते थे।

उन्होंने किसी को ख़ाली हाथ वापस नहीं भेजा। इसे वे अपने वंश के गौरव से गिरा हुआ समझते थे।

परन्तु ऐसा करते हुए भी वे अपटुडेट और फैशनेबल थे। दिन में चार चार बार पोशाक बदलते, अँगरेज़ी टोप पहनते। देहली में कोई थियेटर आता तो उड़कर पहुँचते। उनकी कोठी भी सोलहों आना पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँगी हुई थी, वही रविशें, वही रेशमी पर्दे, वही गद्देदार कुर्सियाँ, वही भारी और लम्बी-चौड़ी मेजें, वही चीनी की रकाबियाँ, वही अँगरेजी के समाचार-पत्र, फर्श पर दरियाँ, दीवारों के साथ शेक्सपियर के नाटकों के चित्र। यह सब देखकर किसी को कल्पना न हो सकती थी कि यह किसी भारतीय की कोठी है। और यदि कोई कोर-कसर रह जाती तो उन्हें बेहरे और दूसरे नौकर-चाकर पूरा कर देते थे। वे सेठ साहब को "साहब" कह कर पुकारते थे। उनकी मोटर जिधर से निकल जाती, लोग चकित रह जाते।

लाला धनीराम ने छड़ी मेज़ के साथ रख दी, और चपरासी को कुर्सी लाने की आज्ञा देकर सेठ साहब की अगवानी को निकले। इस समय उनका कलेजा धड़क रहा था। सेठ साहब ने उनको देखा तो अपनी मोटर से उतर आये, और मुस्करा कर बोले "मेरा विचार न था कि आप इस समय मिलेंगे। नहीं तो सीधा अन्दर आ जाता।"

लाला धनीराम ने कहा "आपका विचार ठीक है, मैं इस समय प्रायः बाहर घूमने निकल जाता हूँ। आज थोड़ा विलम्ब हो गया है।"

"तो मैं आपकी सैर में बाधक हुआ हूँ। जान पड़ता है, आप जाने को तैयार थे।"

"तैयार तो था; परन्तु आप बाधक नहीं हुए।"

सेठ हज़ारीलाल के यहाँ से छपवाई का सहस्रों रुपये का काम निकला करता था। वह सब एकोनोमिकल प्रेस में आया करता था। इससे लाला धनीराम और सेठ साहब का परिचय हो गया था, परन्तु प्रेस में आने का यह पहला अवसर था। उन्होंने इमारत को देखा। एक ओर दफ़्तर का कमरा था, साथ स्नानागार, सामने पक्का कूआँ। एक ओर मैशीनें, दूसरी ओर टाइप की रैकें, साथ कातिबों का स्थान, मध्य में विशाल आँगन, हवादार ड्योढ़ी, सुन्दर पक्के

बरामदे। सेठ साहब ने कहा "बहुत अच्छी इमारत है, देखकर चित्त प्रसन्न हो गया।"

लाला धनीराम ने उत्तर दिया "किराये के मकान में कारोबार करते हुए मन में संतोष न था। जैसी भली-बुरी हो सकी अपनी जगह बना ली है। और यह स्थान पहले मकान से बुरा नहीं।"

इस बीच में दोनों कुर्सियों पर बैठ चुके थे। नौकर ने हुक्का भर कर सामने रक्खा। सेठ साहब पीने लगे, और धूँआँ छोड़ कर बोले "चिरकाल से आपका प्रेस देखने की इच्छा थी, आज पूरी हो गई।"

इतने में नौकर ने लैमोनेड की एक बोतल खोलकर सामने रख दी।

लाला धनीराम ने कहा "सुना था, कभी कभी च्यूँटी के यहाँ स्वयं भगवान् आ जाते हैं, आज आँखों से देख लिया।"

सेठ साहब ने लैमोनेड का ग्लास हाथ में लेकर कहा "आपने योंही कष्ट उठाया। इसकी कोई आवश्यकता न थी।"

"मैं बहुत लज्जित हूँ। आपका कुछ सत्कार नहीं कर सका। गर्मी के दिनों में जल-मात्र ही पर बस करनी पड़ती है।"

एकाएक सेठ साहब ने जेब से एक नोटिस निकाला, और उसे लाला धनीराम के हाथ में देकर बोले "यह आपने देखा, आज रात देहली में ऐल्फ्रेड कंपनी महाभारत का नाटक खेलनेवाली है। लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं। मेरा विचार है, देख आऊँ। यदि आप भी चलें तो आनन्द आ जाये।"

लाला धनीराम को नाटक का शौक़ न था। अपनी इच्छा से आज तक उन्होंने एक भी नाटक न देखा था, परन्तु सेठ हरद्वारीलाल की बात न टाल सके। हँस कर बोले—"बहुत अच्छा, जैसी आज्ञा हो।"

उस रात लाला धनीराम ने पहली बार सैकंड क्लास में यात्रा की। यद्यपि किराया सेठ साहब ने अपनी जेब से दिया था, तो भी उनका चित्त दुखी था, कि रेलवे को अधिक पैसे क्यों दिये। परन्तु गाड़ी में बैठे तो यह पछतावा न रहा। खुला स्थान, सुखदायक गद्दे, बिजली का प्रकाश, बिजली का पंखा। ड्योढ़े दर्जे के लोग दबक दबका कर बैठे थे। कई बेचारे खड़े थे, और कई ऐसे भी थे जिनको खड़ा होने के लिए भी स्थान

न था। उनकी अवस्था देखकर लाला धनीराम को अपनी अवस्था का अनुभव हुआ। अभिमान ने सिर ऊँचा कर दिया। उनकी ओर करुणा-दृष्टि से देखते हुए गौरव के साथ अपनी सीट पर जा बैठे। परन्तु हाथ-पाँव काँप रहे थे, मानों किसी परीक्षा में बैठे हों। रह रह कर सोचते थे, सेठ साहब मुझे कहीं ओछा न समझ लें। यदि ऐसा हुआ तो इनके हृदय में जो मेरा सम्मान है, वह नष्ट हो जायेगा। इस भय से उन्होंने एक समाचार-पत्र हाथ में लिया, और ऐसा प्रकट किया, मानों उसे पढ़ने में लीन हैं। गाड़ी चल पड़ी।

रास्ते में सेठ साहब से और लाला धनीराम से कई विषयों पर बात-चीत होने लगी। लाला धनीराम लौकिक ज्ञान के भण्डार थे। प्रत्येक विषय में उन्होंने अपनी अभिज्ञता के ऐसे प्रमाण दिये कि सेठ साहब की आँखें खुल गईं। उनको इस समय तक यही पता था कि लाला धनीराम प्रेस के काम में ही निपुण हैं, परन्तु अब जाना कि उनका लौकिक ज्ञान प्रत्येक विषय में बहुत बढ़ा-चढ़ा है। वह लाला धनीराम पर लट्टू हो गये, और जोश से बोले, "आप तो छिपे रुस्तम निकले, मुझे पता न था कि पत्थरों में आप जैसे हीरे भी छिपे पड़े हैं। अब तक आपसे परिचय न था, परन्तु आज मुझे आपके गुणों का ज्ञान हो गया है, अब पीछा न छोड़ूँगा। आप चाहे लाख हीले करें, परन्तु आपको प्रतिज्ञा करनी होगी कि मेरे यहाँ आते-जाते रहेंगे। अन्यथा आपके प्रेस में धरना मार कर बैठ जाऊँगा।"

लाला धनीराम ने जब यह प्रशंसा के शब्द सुने तो पानी पानी हो गये। हृदय आनन्द के झूले में झूलने लगा, परन्तु प्रकट में कहा "यह आपका बड़प्पन है।"

"बड़प्पन ही सही, परन्तु आप मुझे मिलते रहेंगे ?"

"मैं न कैसे कह सकता हूँ, मिलता रहूँगा।"

(३)

लाला धनीराम के जीवन में भारी परिवर्तन हुआ। अब वे पहले जैसे परिश्रमी और सीधे-सादे न रहे, नित्य नये नये सूट तैयार होने लगे। सेठ साहब

के यहाँ आना-जाना आरम्भ हुआ तो इस सचाई का ज्ञान हुआ, कि तड़क-भड़क और भोग-विलास जीवन का एक आवश्यक अंग है। नाटक देखकर उनको ऐसा प्रतीत होने लगा मानों मन मतवाला हो गया है। उस दिन के पश्चात् स्वयं भी नाटक के एक्टरों की तरह दिखावा करने लगे, जो कंगाल होते हुए भी राजाओं का स्वाँग भरते हैं, जिनके हृदय रोते हैं, परन्तु होंठ मुस्कराते हैं, जो वह कहते हैं जो उनके मन में नहीं होता। लाला धनीराम भी अपने आपको अपनी स्थिति से बढ़ा चढ़ा कर दिखाने लगे। सारी आयु की सादगी दिखावे की सुन्दरता का एक झोंका भी न सह सकी। जिसे दृढ़ दुर्ग समझा था, वह शत्रु के पहले आक्रमण से ही ढेर हो गया। लाला धनीराम पर किसी ने जादू टोना नहीं किया, परन्तु उनको दिखावे की मदिरा ने उन्मत्त कर दिया। इधर सायंकाल होता, उधर नया सूट पहन कर सेठ साहब के यहाँ चले जाते। नशा बढ़ता जाता, जिस प्रकार भाँग के अमल को मिठाई दुगुना कर देती है। सेठ साहब के यहाँ मोटर, फ़िटन, ताँगे सब कुछ थे। प्रायः लाला धनीराम के लौटते समय गाड़ी या फ़िटन भेज देते। इससे उनको अपना अपमान-सा प्रतीत हुआ। दूसरे ही महीने अपना ताँगा बनवा लिया। सेठ साहब के यहाँ जाते तो ताँगा बाहर खड़ा रहता। इससे उनका हृदय गद्गद हो जाता। अब तक उनकी स्त्री बहुत सीधी-सादी रहती थी। सेठ साहब के यहाँ आने-जाने का यह परिणाम हुआ कि लाला धनीराम की दृष्टि उस ओर भी गई। एक दिन बोले—"सुशीला! तुमसे कई बार कहा है, तुम साफ़-सुथरी रहा करो। जब मैं कमाता हूँ, तो क्या कारण है कि तुम बढ़िया कपड़े न पहनो? परमात्मा ने दिया है तो इसका सम्यक् उपयोग करो। तुम्हें मलीन वस्त्रों में देखकर मेरा जी जल जाता है, परन्तु तुम तनिक भी परवा नहीं करतीं। मैं यह नहीं कहता कि तुम व्यर्थ रुपया खर्चो, परन्तु और नहीं तो इतना तो करो कि लोग मुझे कदर्य न समझें। मैं अब पहला दुकानदार नहीं रहा, एक कारखाने का मालिक हूँ, जिसकी धूम देहली तक मची हुई है। सेठ हरद्वारीलाल जैसा आदमी उठ कर मेरे साथ हाथ मिलाता है। अदालत में जाता हूँ तो वकील कुर्सियाँ छोड़ देते हैं। बाजार में निकलता हूँ तो लोग उँगलियाँ उठाते हैं। इस अवस्था में तनिक विचार करो, यदि

तुम ऐसे वस्त्र पहन कर बाजार से निकल जाओ तो मेरी कितनी निन्दा होगी। मेरी बातों को ज़रा कान दे कर सुनो। अपनी अवस्था से सचेत हो, और जो मैं कहता हूँ उसके अनुसार चलो।"

सुशीला सादगी और सुशीलता को एक ही बात समझती थी। उसके विचार में स्त्री के लिए भड़कीले वस्त्र पहनना पाप था। वह इसे वेश्यापन समझती थी। पति की बातें सुनकर उसके हृदय में बाण-सा लगा, नेत्रों में आँसू आ गये। उसने भर्राये हुए स्वर से कहा "मेरा हृदय तुम्हें अच्छे वस्त्र पहने देखकर प्रफुल्लित हो जाता है, परन्तु मुझे यों ही रहने दो। भड़कीली वस्त्र पहन कर मैं क्या करूँगी?"

यदि यही शब्द सुशीला पहले कहती तो धनीराम उसे गले लगा लेते, परन्तु अब वह अवस्था न थी। वे सेठ साहब के यहाँ स्त्रियों को तितलियों की नाईं सजी हुई देख आये थे। उनके हृदय में लोगों के दिखावे के साँप का विष चढ़ चुका था। यह मीठे शब्द उनको बहुत कड़वे लगे, जिस प्रकार ज्वर के रोगी को मिश्री कड़वी लगती है। तथापि सँभल कर बोले—"नहीं सुशीला! तुमने स्त्री-जाति को अत्यन्त नीच समझ रखा है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं। स्त्री पुरुष के पाँव की जूती नहीं, वह उसकी सेवा के लिए नहीं उत्पन्न की गई है, प्रत्युत इसलिए कि उसके साथ साथ चलकर संसार के सुख-भोग करे और आनन्द का जीवन बितावे। प्रकृति ने नारी को पुरुष के अँधेरे दिनों को प्रकाशमय और दुःखमय क्षणों को आनन्दमय बनाने के लिए उत्पन्न किया है। संसार के बग़ीचे में वह बुलबुल के समान है। परन्तु तुम अभी वही पुराने ढर्रे के विचारों को लिये बैठी हो। यह विचार तुम्हें अब छोड़ने होंगे। कल मिस्टर हरद्वारीलाल ने मुझसे तुम्हें साथ लाने को कहा था। तुमसे क्या कहूँ, मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। कई बार कहा कि वह अनपढ़ है, तुम्हारी संगति के योग्य नहीं। परन्तु उन्होंने नहीं माना। अब किसी दिन तुम्हें साथ ले जाना होगा। चल कर देखना, उनके घर की स्त्रियाँ कैसी सभ्य हैं। पहनने में, खाने-पीने में, बातचीत करने में, तुम्हारा और उनका आकाश-पाताल का अन्तर है। तुम उनमें जाकर ऐसी मालूम होगी जैसे हंसों में कौआ। वहाँ चल कर तुम्हें पता चलेगा कि जीवन की उच्चाकांक्षा कैसी सुन्दर है, इन्द्रधनुष की

नाईं चित्र-विचित्र और मनोहर। देखकर मन-मयूर नाचने लगता है। पर मुझे डर है कि कहीं तुम्हारी बदौलत मुझे लज्जित न होना पड़े।"

(४)

इन वचनों से सुशीला के हृदय का सोया हुआ अभिमान जाग उठा। "तुम उनमें जाकर ऐसी मालूम होगी जैसे हंसों में कौआ" इन शब्दों ने उस पर वह कुछ किया जो सारी वक्तृता न कर सकी। स्त्री अपना अपमान सह सकती है, परन्तु उसे दूसरे के मुँह से सुन नहीं सकती। और विशेषकर उस अवस्था में जब कि उसकी तुलना दूसरी स्त्रियों के गुणों से की जाय, और वह भी उसके पति के मुख से। सुशीला ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब सादगी और त्याग का जीवन व्यतीत न करूँगी।

अब से उसके भी धनाढ्य स्त्रियों की नाईं ऐश्वर्य के दिन कटने लगे। सायं-काल को ताँगे में बैठ कर बज़ाज़ की दुकान पर गई और साढ़े तीन सौ का कपड़ा ले आई। परन्तु मन न भरा। स्त्री-जाति का स्वभाव है कि वह जिधर झुकती है, पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। मध्यम अवस्था में रहना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। सुशीला भी एक ही दिन में मध्यम अवस्था को पार कर गई, और बनाव-शृंगार की चोटी पर पहुँच गई।

वस्त्रों के पश्चात् आभूषणों की माँग हुई। धनीराम ने उसको सहर्ष पूरा किया। दो मास के पश्चात् एक दिन सुशीला ने कहा "तुमने कहा था, मिसिज़ हरद्वारीलाल मुझे बुलाती हैं, किसी दिन ले चलो न।" लाला धनीराम के रोम रोम में आनन्द की लहर दौड़ गई। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि सेठ हरद्वारीलाल के घरवालों पर उनकी स्त्री का सिक्का बैठ जाय। वह अवसर अब सामने था। उनकी स्त्री अब पहली स्त्री न थी, अब वह उदार-चित्त अमीर स्त्री बन गई थी, सफाई-पसन्द और सलीके-वाली। वस्त्र पर ज़रा-सा दाग़ लग जाता तो उसका मन उससे घृणा करने लगता, और जब तक उसे बदल न डालती, तब तक चैन न आता। इससे धनीराम फूले न समाते। वे रुपये-पैसे को कंकर समझने लगे थे।

उन्होंने सुशीला को गले लगा लिया, और कहा "तुमने मेरी लाज रख ली।"

सायंकाल लाला धनीराम सुशीला को साथ लेकर सेठ साहब के यहाँ गये। मिसिज़ हरद्वारीलाल फाटक पर खड़ी थीं। उन्होंने जाकर सुशीला का हाथ थाम लिया, और कहा "वाह बहन! खूब रास्ता दिखाया। मैं तो भाईजी से रोज़ तगादा करते करते थक गई थी। अब तो मैंने समझ लिया था कि तुम हमें अपने योग्य नहीं समझतीं। आज कैसे भूल पड़ीं?"

सुशीला अब बातचीत का ढंग सीख गई थी, बोली, "बहन! जी तड़पता था, परन्तु घर के काम-धंधे रोकते थे। अच्छा, आज आ ही गई।"

रात्रि को लौटते समय सुशीला ने पति से कहा—"जी चाहता है, एक दिन इनको अपने यहाँ आमन्त्रित करूँ।"

धनीराम ने उत्तर दिया—"यह भी जानती हो, इनको आमन्त्रित करने के क्या अर्थ हैं?"

"नहीं।"

"कम से कम पाँच सौ रुपया।"

"पाँच सौ रुपया? वह कैसे?"

"घर सजाना होगा। पर्दे लटकाने होंगे। कुर्सियाँ, मेज़, दरियाँ मँगवानी होंगी। खान-पान की सामग्री इससे अलग रही। यदि इतना खर्च कर सकती हो, तो निमन्त्रण दे दो। नहीं चुप रहो।"

"चुप रहना कठिन है। तुम रोज़ रोज़ उनके यहाँ जाते रहते हो। इस बात को कई मास हो गये हैं, इस बीच में तुमने उनको एक दिन भी अपने यहाँ नहीं बुलाया। ज़रा सोचो तो सही, वे मन में क्या कहते होंगे। मुझे तो आज बड़ी लज्जा आई। दूसरी बार जाऊँगी तो उनको आमन्त्रित किये बिना न आऊँगी।"

लाला धनीराम कुछ देर तक चुप रहे, कदाचित् सोचते होंगे कि बैंक में रुपया है या नहीं। इसके पश्चात् कुछ सोच में पड़ गये। दीर्घदर्शिता और लोकाचार में संग्राम आरम्भ हो रहा था। सुशीला ने कहा "तो फिर संसार में किसी के साथ बर्तना भी है या नहीं। रुपया खर्च किये बिना तो काम नहीं चलता। धनाढ्य पुरुष हैं, अपने बन आयेंगे तो किसी दिन काम आयेंगे। इसी

विचार से मैंने कहा था कि उनको एक-आध बार अपने यहाँ बुलाऊँ, तो तनिक संकोच खुल जाये। आगे जैसी आपकी इच्छा।"

लाला धनीराम सिगार पी रहे थे। यह सेठ साहब की संगति का फल था, नहीं तो उन्होंने कभी इसे छुआ तक न था। धुँआ छोड़ते हुए बोले "मैं मना नहीं करता। तुम शौक से उनको निमन्त्रित करो, सामान आ जायगा।"

"तो कब तक पत्र भेज दूँ?"

"जब तुम्हारा जी चाहे।"

"मैं चाहती हूँ, यह काम अठवारे के अन्दर अन्दर हो जाय।"

"कोई हर्ज नही।"

दूसरे दिन से पति-पत्नी दोनों तैयारियाँ करने लगे। धनीराम सामान खरीदते थे, सुशीला घर सजाती थी। इन तैयारियों में पन्द्रह दिन निकल गये। कोई विवाह न था, कोई त्योहार न था, कोई उत्सव न था। ऐसे अवसरों पर बहुत काम होता है। परन्तु यहाँ इससे भी बढ़-चढ़ कर काम था। ऐसा जान पड़ता था मानों उनके यहाँ बारात आनेवाली है। उनको खाने-पीने की सुध न थी। वे मैशीन की नाईं काम करते थे; जैसे वे नौकर हों, और उनका बड़ा अफ़सर आनेवाला हो। डर यह था कि कोई त्रुटि न रह जाय। मिसिज़ हरद्वारीलाल के सम्मुख यह गर्वशील सिर झुक न जाय। वे घर में पाँव रखते ही चौंक उठें। उनके मुख से वाह-वाह के शब्द निकल आये। तेजप्रताप से उनका हृदय हिल जाय और उनको पता लग जाय कि यह भी किसी से कम नहीं हैं।

(५)

पन्द्रहवें दिन सेठ और मिसिज़ हरद्वारीलाल का भोज था। उस दिन धनीराम और सुशीला चार बजे उठे। मकान साफ़ किया, आँगन में छिड़काव कराया। द्वार पर शुभागमन और "Welcome" के मोटो लगाये। दीवारों पर फुलवारियाँ सजाईं। प्रत्येक वस्तु यथोचित स्थान पर हो, इसका ऐसा ख़याल था, कि देखनेवाला सजानेवालों की प्रशंसा किये बिना न रह सके। जब सेठ साहब और मिसिज़ हरद्वारीलाल के आने का समय हुआ तो पति-पत्नी दोनों द्वार पर आ खड़े हुए, मानों उनके भाग्य का निपटारा होनेवाला है। इतने में

मोटर द्वार पर आकर रुकी। दोनों के हृदय धड़कने लगे। एक हल्की सी मुस्कराहट और कुछ वाह वाह के शब्द, यही उनके परिश्रम और खर्च का मूल्य था। क्या यह उन्हें मिलेगा?

सेठ साहब और मिसिज़ हरद्वारीलाल मोटर से उतरे, और चौंक उठे। क्या यहाँ कोई बारात आनेवाली है? सजावट ने इस विचार को पक्का कर दिया, परन्तु धनीराम और सुशीला के मुख से कोई ऐसी बात प्रकट न होती थी। उन्होंने बहुत ही उत्साह के साथ आगे बढ़ कर अपने अतिथियों का स्वागत किया, और हाथों-हाथों भीतर ले गये। धनीराम ने अपनी परिस्थिति साधारण रखी थी जैसे उनका रहनसहन ही ऐसा है, उसमें कोई विशेषता नहीं की गई। परन्तु सुशीला ने काम चौपट कर दिया। वह एक एक वस्तु को अभिमान से देखती थी; जैसे किसी मजदूर को राजाओं की पोशाक पहन कर अभिमान होता है, उसी प्रकार सुशीला के पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। मिसिज़ हरद्वारीलाल पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वह समझती थी, सुशीला कोई समझदार स्त्री होगी, परन्तु इस ओछेपन ने उसका विचार रद्द कर दिया। यहाँ तक कि उसे खाने में भी कुछ स्वाद न आया। भाजियाँ अच्छी थीं, परन्तु घी के बाहुल्य ने उनका स्वाद बिगाड़ दिया। उसको ऐसा प्रतीत हुआ कि इनको कभी घी खाने का अवसर नहीं मिला। आज पहली बार इन्हें घी मिला है, इसलिए अगली-पिछली कसर निकाल रहे हैं। उसका जी उकता गया। परन्तु उसने मस्तक पर बल न आने दिया। जाते समय बोली—"बहन जी! आपका रहन-सहन देखकर चित्त प्रसन्न हो गया है। आप ऐसी सज-धज से रहती हैं, मुझे यह पता न था। और खाना खाकर तो मन प्रसन्न हो गया। मैं किस मुँह से आपको धन्यवाद दूँ। प्रत्येक पदार्थ ऐसा स्वादिष्ट बना था कि मैं आवश्यता से अधिक खा गई।"

सुशीला की आँखें चमकने लगीं। उनका खर्च करना अकारथ न गया। होंठों पर मुस्कराहट आ गई, परन्तु उसे दबाकर बोली, "यह आपका ख़याल है, नहीं तो मेरा भोजन तो सुदामा के सत्तू हैं। यह आपकी कृपा है, जो पसन्द कर लिया। कभी फिर भी दर्शन दीजियेगा?"

मिसिज़ हरद्वारीलाल परमेश्वर से प्रार्थनाएँ कर रही थीं कि कहीं जल्द छुटकारा हो, परन्तु प्रत्यक्ष में मुस्कराती हुई बोलीं—"बहनजी! क्या कहूँ?

आपके सद्‌व्यवहार ने मुझ पर जादू कर दिया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अब आपके बिना मेरा निर्वाह न होगा। मैं आप के यहाँ प्रायः आती-जाती रहूँगी। पहली बार की झिझक थी, सो निकल गई। अब क्यों न आऊँगी ?"

यही शब्द थे जिनके लिए सुशीला के कान आतुर और अधीर हो रहे थे। यही शब्द थे जिनके लिए सुशीला ने पाँच-छः सौ रुपया खर्च कर दिया था और पन्द्रह दिन चैन से न सोई थी। वह आनन्द में विह्वल हो गई, जिस प्रकार हरिण वीणा को सुन कर मस्त हो जाता है।

इसके पश्चात् सुशीला की अवस्था में परिवर्तन हुआ। धनीराम प्रति दिन टेनिस खेलने जाया करते थे। वहाँ मिसिज़ हरद्वारीलाल और कुछ अन्य स्त्रियाँ भी आया करती थीं। उनके क़हक़हे क्लब की रौनक़ थे। लाला धनीराम की इच्छा थी कि किसी तरह सुशीला भी उनके साथ टेनिस का रैकट लेकर साड़ी पहन कर क्लब में चले। जब वहाँ सेठ हरद्वारीलाल और दूसरे सुहृद्-मित्र अपनी स्त्रियों के साथ जाते तो धनीराम के कलेजे पर छुरियाँ चल जाती थीं। वे वहाँ अकेले जाने में अपमान समझते थे।

अब धनीराम ने अपनी स्त्री को उकसाना आरंभ किया! क्या बेहूदगी है, सायङ्काल को खेल-कूद आवश्यक है। परन्तु तुम समझदार होकर भी लोक-लज्जा में फँसी रहती हो। एक दिन चल कर देखो तो सही, चित्त प्रसन्न हो जायगा। मिसिज़ हरद्वारीलाल, मिसिज़ मंचिंदा, मिसिज़ चोपड़ा सब आती हैं, परन्तु तुम घूँघट से मुँह ही बाहर नहीं निकालतीं। मुझे बहुत लज्जित होना पड़ता है। इसलिए तुम्हें चाहिए कि क्लब की मेम्बर बन जाओ, यह व्यायाम का व्यायाम है, खेल-कूद का खेल-कूद। एक बार जाकर तुम्हारा मन वापस आने को न चाहेगा। सुशीला ने कुछ दिन तक इन सब बातों की कुछ भी परवा न की, परन्तु अंत में उसे मानना ही पड़ा। क्लब की मेम्बर बन गई। वहाँ उसने नई नई बातें सीखीं। टेनिस खेलना तो केवल एक बहाना था, उद्देश्य यह था कि "सभ्य सोसाइटी" के साथ मेल-जोल बढ़े। वहाँ जितनी मेंबर स्त्रियाँ थीं, सब की सब धनाढ्य और कुलीन थीं। उनकी वेष-भूषा स्वभावतः बड़े ठाट बाट की थी। सुशीला अपनी दृष्टि में आप गिरने लगी। जब तक कभी कभी मेल-मिलाप होता था, तब तक कुशल था, परन्तु प्रति दिन क्लब में जाना तो अंधेर ही

गया। अब नित नये वस्त्र तैयार होने लगे, और वह भी बहुमूल्य और भड़कीले। यह कैसे हो सकता था कि वह सामान्य वस्त्र पहन कर बाज़ार से निकल जाये? उस अवस्था में लोग क्या कहते? अवश्य ही उसकी ओर उँगलियाँ उठने लगतीं; यह असह्य था। इसमें सन्देह नहीं कि ख़र्च का बोझ सिर तोड़े डालता था। बैंक का, सेठ हरद्वारीलाल का, और कुछ दूसरे साहूकारों का ऋण दिन पर दिन बढ़ रहा था। परन्तु इसकी क्या परवा थी, इससे आन-बान तो न घटती थी। सुनहरी गुरगाबी और रेशमी साड़ी के बिना बाहर निकलना उसके लिए नितान्त असंभव था। वह इसे असभ्यता और निर्लज्जता समझने लगी थी। समय की बात है, वहाँ सुशीला जो प्रातःकाल अपने हाथ से रोटी बनाती, दोपहर को चर्खा कातती, और साँझ को पति की राह देखा करती थी, अब इन कामों को अपमान का कारण समझने लगी। एक बार धनीराम ज्वर से पीड़ित थे, तब सुशीला ने अपने बुंदे बेच दिये थे, उस समय वह असभ्य और मूर्खा थी। परन्तु नवीन सभ्यता में जब धनीराम एक बार सन्निपात से मरणासन्न हो गये थे तो सुशीला ने पति से कहा—"मेरा प्रबन्ध क्या होगा? लाख बार कहा था कि जिंदगी का बीमा करवा लो, परन्तु आपने परवा न की। जीवन का क्या भरोसा है? अपनी ओर से सावधान रहना चाहिए।" अब वह सभ्यता के आकाश में उड़ती थी, वह जीवन और लोकाचार को एक ही वस्तु समझने लगी थी।

(6)

एक वर्ष बीत गया। ला॰ धनीराम का नाम नगर के रईसों में शुमार होने लगा। परन्तु उनकी आय घटने लगी। वे दफ़्तर में अब भी जाते थे। बाहर से काम अब भी आता था, परन्तु उस ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। वे दफ़्तर में इसलिए नहीं जाते थे कि काम करें, वरन् इसलिए कि लोगों को पता लगेगा कि मैं दफ़्तर जा रहा हूँ। वे इसमें अपनी बड़ाई समझते थे। काम में उनका मन न लगता था। कई बार तो उन्होंने विचार किया कि अब इस धन्धे को छोड़ कर कोई और काम आरम्भ करें जो 'पोज़ीशन' के अनुकूल हो। उनकी इस उपेक्षा से नौकरों को लाभ पहुँच गया। कभी वह दिन थे

यही शब्द धनीराम अपनी स्त्री के मुख से प्रति दिन सुनते थे, और सुनकर लट्टू हो जाते थे, परन्तु आज उनको ऐसा प्रतीत हुआ जैसे इनमें लाल मिर्चें घुली हैं। उन्होंने अनमने से होकर कहा, "मेरा चित्त कुछ स्वस्थ नहीं है, तुम हो आओ, मैं न जाऊँगा।"

सुशीला डर गई। उसमें दिखावा, स्वार्थ और बनाव-सिंगार के व्यसन आ गये थे, परन्तु पति-प्रेम अभी शेष था। वह इस अमूल्य रत्न से अभी वंचित नहीं हुई थी। उसने झुककर पति के मस्तक पर हाथ रखा और बोली—"क्यों, क्या है?"

धनीराम को इन सहानुभूति के शब्दों ने हिला दिया। उनकी आँखों में आँसू आ गये। वे लेटे हुए थे, उठ बैठे और बोले, "सुशीला! तुमसे क्या कहूँ? मैंने अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ी मार ली। मैंने अपने आपको नष्ट कर लिया। मैंने धनवानों की मित्रता के लिए वह किया, जो मेरी शक्ति से बाहर था। उनके मुख से अपनी प्रशंसा के दो शब्द सुनने की इच्छा में मैंने अपना घर-बार लुटा दिया। मुझे याद है, मैं कैसा परिश्रमी, कितना पुरुषार्थी, कितना काम करनेवाला था। मेरी ओर देख कर लोगों में जोश आ जाता था। मैं अपनी चादर देख कर पाँव पसारा करता था। परन्तु धनवान मित्रों के साथ पाँव उठाने के विचार ने मुझे अन्धा कर दिया। मैंने अपनी बिसात से बढ़ कर खर्च किया, और इतना न सोचा कि इसका परिणाम कितना भयानक, कैसा विनाशकारी हो सकता है। उस समय मैं समझता था कि धनवान मित्र मेरे काम आयेंगे, और आवश्यकता पड़ने पर मेरा गिरता हुआ घर थाम लेंगे। परन्तु आज पता लगा, कि यह मेरी भूल थी। मुझे सोचना चाहिए था कि आदमी को अपने बराबर के आदमी के साथ मिलना चाहिए। अपने से ऊँचे आदमी से मित्रता का निर्वाह कठिन है। आज मुझ पर विपत्ति आई है, परन्तु इससे मेरी आँखें खुल गई हैं। मुझे निश्चय हो गया है कि इस लोकाचार को छोड़े बिना शान्ति न होगी। मैं मानता हूँ कि तुम इस कुपथ पर आने के विरुद्ध रहीं। मैंने ही तुम्हें विवश किया था। इसका पाप मेरे सिर पर है। परन्तु अब यही मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि इस बीमारी से बचो, नहीं तो हमारा बचाव नहीं होगा। मैं तुमको अब फिर वही प्रातःकाल को दूध दुहनेवाली, दोपहर को रोटी पकानेवाली, तीसरे पहर चर्खा कातनेवाली, सीधी-सादी भोली-

भाली गाँव की लड़की देखना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि अब फिर वही सादगी का युग आये, वही निर्मल प्रेम का स्रोत बहे, वही बीते हुए दिन वापस आयें। मैं मोटर नहीं चाहता; बड़ी बड़ी सजी हुई कोठियाँ नहीं चाहता, क्लब-घर नहीं चाहता, मितव्ययिता और परिश्रम का जीवन चाहता हूँ। मुझे निराश न करना, नहीं मेरा दिल टूट जायगा।"

(७)

सुशीला की आँखें खुल गईं। इस जगत-दिखावे का परिणाम ऐसा दुःख-जनक होगा, उसे इसकी स्वप्न में भी आशंका न थी। वह रोती हुई पति के पाँव से लिपट गई और बोली, "आप जो चाहते हैं, मैं वही करूँगी। मैं सब कुछ सह सकती हूँ, पर आपके मुख पर चिन्ता नहीं देख सकती।"

धनीराम का मुख गुलाब के फूल के समान खिल गया। उन्होंने पत्नी को उठा कर गले से लगा लिया, और बोले, "अब मुझे कोई चिन्ता नहीं।"

सुशीला ने कुर्सी पर बैठ कर चिन्तित-भाव से कहा, "यह सब छापाख़ाना बेच क्यों न दिया जाय?"

"इसके सिवाय उपाय ही क्या है?"

"ऋण उतर जायेगा?"

"नहीं।"

"फिर शेष के लिए क्या करोगे?"

"प्रोनोट लिख दूँगा।"

"तो जल्दी करो। अब इस शहर में रहने को जी नहीं चाहता।"

धनीराम घबराये हुए थे। वह चाहते थे कि जितनी जल्दी इस माया-जाल से छुटकारा हो, उतना ही अच्छा है। उन्होंने अपने प्रेस और दूसरी चीज़ों को बेचना आरम्भ कर दिया। रुपयों की चीज़ें कौड़ियों में निकल गईं, परन्तु ऋण उतर गया। इसके लिए सुशीला के आभूषण तक बिक गये। परन्तु उसने परवा न की।

इसके एक मास पश्चात् नौकरी की खोज में धनीराम देहली को रवाना हुए। अब रोहतक में रहना असह्य हो गया था।

मातृ-स्नेह

(१)

लाला नानकचन्द निर्धन मनुष्य थे, और ब्याहे हुए। तीन पुत्र थे; एक कन्या, प्रायः उदास रहते और प्रारब्ध को कोसा करते। पचास रुपये मासिक वेतन था, साठ रुपये का ख़र्च। अवकाश के समय दो-तीन आढ़तियों के पत्र भी लिखा करते थे। वहाँ से पन्द्रह-बीस की आय और हो जाती थी, परन्तु इतना कुछ कर चुकने पर भी हाथ तङ्ग ही रहता था। नानकचन्द अत्यन्त आतुर रहते। उनके मुख पर कभी किसी ने हँसी की रेखा नहीं देखी। उनको न खाने का शौक था और न पीने का। दफ़्तर के लोग कहते, कैसे सूम हो, ज़रा कपड़े तो उजले रखा करो। नानकचन्द इसका उत्तर नैराश्य-दृष्टि से देते, और टल जाते। एक बजे के लगभग दफ़्तर के हाते में ख़्वाँचेवाला आता, तो बाबू लोग काम-काज छोड़ कर उसके गिर्द घेरा डाल लेते। कोई दो आने का खाता, कोई चार आने, परन्तु नानकचन्द को किसी ने कभी पैसे की वस्तु खाते नहीं देखा। दफ़्तर के लोगों का ख़याल था कि यह इसकी प्रकृति है, पेट काट-काट कर बचाता है। वह इन्हें सूम समझते थे। परन्तु सचाई इससे कोसों दूर थी। नानकचन्द सूम न थे। दूसरे बाबुओं की भाँति वे भी चाहते थे कि वस्त्र उजले रखें; परन्तु पास पैसा न था। मिठाई का ख़्वाँचा देखकर उनका मन भी बालक की तरह अधीर हो जाता था, परन्तु घर के बढ़े हुए ख़र्च

गला पकड़ लेते थे। वे नेत्र उठाते और नैराश्य-भाव से फिर दृष्टि नीची करके काम में लीन हो जाते। कर्त्तव्य ठण्ढी साँस भरता, परन्तु अचल धैर्य्य आकांक्षा को पाँवों तले रौंद डालता।

(२)

प्रातःकाल था। मानकचन्द आढ़तियों के पत्र लिख रहे थे, और उनके पुत्र ऊधम मचा रहे थे। बसन्त कहता था अनन्त मेरा घोड़ा ले गया है। अनन्त रोता था बसन्त मुझे रस्सी नहीं देता। इन दोनों को झगड़ते देखा तो बड़ा लड़का जसवन्त उचक कर रस्सी और लकड़ी का घोड़ा दोनों वस्तुएँ ले गया। अनन्त और बसन्त दोनों चीख़-चीख़ कर रोने लगे।

मानकचन्द ने सीता से कहा, "इनको यहाँ से हटाती हो कि नहीं। मुझे अभी बहुत-सा काम करना है। महीने के अन्त में फिर कहोगी, ख़र्च नहीं है।"

सीता ने रोटी तवे पर डालते हुए उत्तर दिया, "तो क्या अब काम करते ही रहोगे? धूप की ओर तो देखो, नौ कब के बज चुके। दफ़्तर का समय हो गया है।"

शब्द साधारण थे, परन्तु मानकचन्द की क्रोधाग्नि पर तेल का काम दे गये। उन्होंने जोश में आकर कहा, "सहस्रों मनुष्य आये दिन प्लेग से मरते रहते हैं, इनके प्लेग भी नहीं होता, कि मेरे प्राण दुःख से छूट जायँ।"

माँ सब कुछ सह सकती है, पर यह नहीं सह सकती। सीता गर्म होकर बोली, "हाँ इनको प्लेग करो, तुम्हारे घर में जन्म लेकर इन्होंने थोड़े सुख भोगे हैं। अब बच्चे हैं, मुँह सीकर कैसे बैठ रहें। इनको देखकर तो तुम्हें ज़हर-सा चढ़ जाता है।"

मानकचन्द ने सीता को इस प्रकार घूर कर देखा मानो खा ही जायँगे, और उत्तर दिया, "हाँ ज़हर-सा चढ़ जाता है। तुमको कमाना नहीं पड़ता। घर में बैठी बातें बनाना जानती हो, जितना काम मुझे करना पड़ता है, उतना मेरे दफ़्तर भर में कोई नहीं करता।"

"तो ब्याह न करते। इसमें इन बच्चों का क्या दोष है?"

"दोष है। मैं चिल्लाता रहता हूँ, कि चुपके होकर बैठो, मुझे काम करने दो। परन्तु यह मेरी बात पर कान तक नहीं धरते।"

सीता ने धीरे से कहा, "फिर बच्चे ही तो हैं, भूल कर बैठते हैं।"

"मैं इनको मार-मार कर इनकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।"

"चलो रोटी खा लो, दफ़्तर का समय हो गया है।"

नानकचन्द रोटी खाने बैठे, परन्तु दो ही कौर मुख में डाले होंगे कि पड़ोसी के क्लाक ने दस बजा दिये। नानकचन्द ने हाथ खैंच लिया और थाली हटा दी। सीता ने प्यार से कहा, "अब जल्दी-जल्दी खा लो, आज ज़रा देर हो गई तो क्या हुआ। कह देना।"

यह वाक्य कैसा हृदय-वेधक था, नैराश्य की सजीव मूर्त्ति, नानकचन्द की आँखें सजल हो गईं। वह रुद्ध कण्ठ से बोले, "क्या करूँ, सुपरिन्टैंडैन्ट बड़ा कठोर आदमी है। छोटी-छोटी बात पर (Explanation) ऐक्सप्लेनेशन माँगता है। अब जाने ही दो, आकर खा लूँगा।"

सीता कुछ कहने को थी, कि नानकचन्द की दृष्टि अनन्त पर पड़ गई। प्रातःकाल उन्होंने जितने पत्र लिखे थे, उसने सबके सब फाड़ डाले थे, और उनका पुलन्दा बना कर खेल रहा था। गया हुआ क्रोध वापस आ गया। अब नानकचन्द न सह सके। उन्होंने अनन्त को गले से पकड़ कर कहा, "क्यों सूअर, यह क्या किया?"

इस समय उनके शब्दों में किसी सिंह की-सी गर्जना थी।

अनन्त ने पहले तो इस प्रकार पिता की ओर देखा, मानो उसने कोई अपराध नहीं किया, परन्तु पिता की लाल आँखें देखकर सहम गया, और धीरे से बोला, "अब न करूँगा।"

यही शब्द थे, जिनको सुनकर नानकचन्द मुग्ध हो जाया करते थे। यही तोतली वाणी थी, जिससे उन पर अनिर्वचनीय आनन्द छा जाता था। परन्तु इस समय नानकचन्द पर कोई प्रभाव न पड़ा। क्रोध ने मिठास में विष मिला दिया।

सीता ने आगे बढ़ कर अनन्त से कहा, "बेटा! बाबूजी के आगे हाथ जोड़ दे। फिर काग़ज़ न छेड़ना"। अनन्त ने अपने भोले भाले हाथ जोड़ कर अपराधी की नाईं नेत्रों में आँसू भर कर कहा, "अब न छेड़ूँगा"।

परन्तु क्रोध के दरबार में विनती की कोई पूछ नहीं होती। नानकचन्द ने

बच्चे को मार-मार कर अधमुआ कर दिया। सीता ने उसे छुड़ाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु नानकचन्द ने सुना-अनसुना कर दिया, और जब तक हाथ थक न गये बराबर मारते गये। इस मार से उनका क्रोध उतर गया, परन्तु फटे हुए काग़ज़ों को कौन जोड़ सकता था?

(२)

मगर घर से बाहर जाकर उनको अपने किये पर पछतावा हुआ। जब तक क्रोध था तब तक सोच न सकते थे, मगर दफ्तर जाकर चैन से बैठे तो उनको अपनी भूल का अनुभव हुआ। सोचा मैंने योंही मारा। बच्चे को क्या पता कि उसने क्या कर दिया। वे काग़ज़ मेरे लिये बहुमूल्य थे, लेकिन बच्चे के लिए वे और रद्दी एक समान हैं। भूल उसकी नहीं मेरी थी। मुझे चाहिये था कि उन्हें सँभाल कर रखता न कि इस तरह चारपाई पर फेंक देता। मैंने ठीक नहीं किया। वह उस समय कैसी दीन दृष्टि से मेरी ओर देखता था जैसे कोई दया के लिए प्रार्थना करता हो, परन्तु मैंने ध्यान न दिया। उसकी वाणी कैसी मधुर है, जैसे श्यामा का सङ्गीत। साँझ को घर जाता हूँ तो किस प्यार से चिमट जाता है, दफ्तर का समय होता है तो बूट लाकर आगे रख देता है। उसका बाल-हृदय क्या कहता होगा। अबोध बालक क्या जानता है कि ये काग़ज़ काम के हैं या बेकार। परन्तु क्रोध ने आँखें बन्द कर दीं। उन्होंने चाहा उड़कर घर पहुँच जायँ, परन्तु दफ्तर के नियम ने पाँव जकड़ लिये, चुपचाप काम करते रहे। उस दिन उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानों काल स्थिर हो गया है और घड़ी की सुइयाँ जम गई हैं। वे बारम्बार घड़ी की ओर देखते थे और क्रोध से होंठ काट-काट कर रह जाते थे। आखिर घड़ी ने चार बजाये, नानकचन्द लम्बे-लम्बे डग मारते हुए घर की ओर चले। बाज़ार में पहुँचे, तो सोचा अमरनाथ को मारा था, रूठ गया होगा। मुझे देखेगा तो छिप जायगा। बुलाऊँगा तो उत्तर न देगा। मिठाई का दोना ले चलूँ। यह मिठाई उसके घावों पर मरहम का काम दे जायगी। यह सोच कर नानकचन्द ने चार आने की मिठाई ख़रीदी और फूले-फूले घर को चले। परन्तु वहाँ पहुँचे तो घर की अवस्था ही बदली हुई देखी। एक ओर स्त्री बैठी रो रही थी, दूसरी ओर

कन्या सिसक रही थी। जसवन्त ने पिता को देखा तो वह भी रोने लगा। बसन्त धूल में पड़ा सो रहा था, उसकी ओर किसी का ध्यान न था।

(४)

नानकचन्द के कलेजे में जैसे किसी ने भाला चुभो दिया। उनका सिर चकराने लगा और पाँव तले की भूमि खिसकने लगी। उन्होंने मिठाई का दोना एक चारपाई पर रखा और गृहिणी के पास जाकर बोले, "क्यों क्या बात है ?"

सीता इस समय तक चुप थी, परन्तु पति की बात सुनकर अकुला उठी। उसने छेड़ी हुई नागिन के समान सिर उठाया और कहा, "मिठाई के दोने बांटो, तुम्हारी सदिच्छा पूरी हो गई। सबेरे बच्चे को क्लेश करने के लिए शुभ-प्रार्थनाएँ कर रहे थे, भगवान ने तुम्हारी सुन ली।"

नानकचन्द का कलेजा धड़कने लगा। उनके हृदय में सहस्रों शङ्काएँ उठीं, घबराकर बोले, "क्यों कुशल तो है। अनन्त कहाँ है ?"

"अनन्त तुम्हारा कौन है ? जो उसके लिए पूछते हो। सबेरे मार मारकर बेचारे के प्राण ले लिये थे।"

"परन्तु अब कहाँ है" ?

क्रोध जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, तो चुप्पी साध लेता है। सीता ने कोई उत्तर न दिया।

नानकचन्द ने हार कर कन्या से पूछा, "सावित्री ! अनन्त कहाँ है ?"

सावित्री ने सिसकियाँ भरते हुए उत्तर दिया, "पता नहीं।"

"क्या घर में नहीं है ?"

"नहीं।"

"तो कहाँ है ?"

"आपके दफ्तर जाने के बाद बाहर निकला था, फिर पता नहीं चला। बहुतेरा ढूँढा, पर वह नहीं मिला।"

नानकचन्द अपनी भूल का ऐसा भयानक परिणाम देख कर तलमला उठे और जल्दी से बाहर निकल गये। वे कभी सोचते, किसी ताँगे के नीचे न आ गया हो, कभी कल्पना होती, वर्षा के दिन हैं, नदी में बाढ़ आई हुई है, उसमें

न गिर गया हो। जो कुछ दुख-सुख हो गया तो इसका उत्तरदायित्व एकमात्र मुझी पर होगा। सीता को कौन-सा मुँह दिखाऊँगा। यह सोचते-सोचते उनकी तेज-हीन आँखों में शोक-अश्रु आ गये। रोते हुए बाहर निकले और बच्चे को ढूँढ़ने लगे, परन्तु उसका पता न मिला। ढिंढोरा पिटवाया, पुलिस में सूचना दी और हताश होकर घर लौटे। सहसा एक विशाल भवन के सामने से गुज़रते हुए उनके कान में आवाज़ आई, "बाबूजी।"

निराशा ने आशा का रूप देखा। नानकचन्द के पाँव रुक गये। उन्होंने चारों ओर देखा। रायबहादुर मुबारक राय के घर के आँगन में दृष्टि दौड़ाई। इतने में फिर आवाज़ आई, "बाबूजी।"

नानकचन्द का रोम-रोम हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा। वही स्वर था, वही बोल, वही माधुर्य, वही भोलापन। नानकचन्द दौड़कर आँगन में गये, और दूसरे क्षण में उनका पुत्र उनकी टाँगों से चिमटा हुआ था।

परन्तु अभी वे अपने खोये हुए बालक के मिलन का सुख भी न अनुभव कर पाये थे कि रायबहादुर मुबारक राय उनके सामने आ खड़े हुए और बोले, "यह आपका बालक है क्या?"

नानकचन्द ने बालक के माथेपर बिखरे हुए बाल हटाते हुए उत्तर दिया, "जी हाँ।"

"आप पिता नहीं पिशाच हैं। ये जो इस बच्चे के शरीर पर मार के चिन्ह हैं, यह आपकी करतूत है। आपको कुछ लज्जा आनी चाहिये!"

नानकचन्द पर घड़ों पानी पड़ गया, लज्जा के मारे सिर झुक गया। धीरे-धीरे बोले, "यह मेरी मूर्खता थी, भविष्य में ऐसी भूल न होगी।"

"आपके कितने लड़के हैं?"

"तीन।"

"लड़कियाँ?"

"एक।"

रायबहादुर ने प्यासे नेत्रों से नानकचन्द की ओर देखा, यह कैसा भाग्य-शाली है। निर्धन है, परन्तु आँगन बच्चों की हँसी से गूँजता रहता है। मेरे पास धन की कमी नहीं, परन्तु घर में अँधेरा है।' उनके नेत्रों में आँसू छलकने लगे।

नानकचन्द ने प्रातःकाल की घटना सविस्तार कह सुनाई। रायबहादुर को बहुत दुःख हुआ, बोले, "इसमें आपका नहीं, दारिद्र्य का दोष है।"

(५)

एकाएक किसी मनोहर विचार ने उनके हृदय में चुटकी ली, मुखमण्डल पर चमक-सी आ गई। मुस्कराकर बोले, "आपको क्या तनख्वाह मिलती है?"

नानकचन्द ने सिर झुका कर उत्तर दिया, "पचास रुपये।"

"तो निर्वाह कैसे होता होगा?"

"बड़ी तङ्गी से होता है। भगवान् ने जो जीव भेजे हैं, उनके खाने का भी प्रबन्ध हो ही जाता है।"

राय मुबारक राय ने सोचा, "यही अवसर है जब नानकचन्द को वश में किया जा सकता है, मुस्कराकर बोले, "मैं एक बात कहूँ।"

नानकचन्द का दिल धड़कने लगा। उन्होंने आश्चर्य से कहा, "कहिए।"

"आपके सन्तान है, परन्तु रुपया नहीं। मेरे पास रुपया है, परन्तु पुत्र को तरसता हूँ।"

"जी।"

"यदि हम दोनों मिल जाएँ, तो हम दोनों के क्लेश दूर हो सकते हैं।"

नानकचन्द बैठे थे खड़े हो गये, और बोले, "मैं आपकी बात नहीं समझा।"

रायबहादुर कुछ क्षण चुप रहे, मानों अपनी बात के प्रभाव को तुगना करना चाहते थे, और फिर बोले, "बात स्पष्ट है। आप अपना यह लड़का मुझे दे दीजिए, मैं इसे अपना पोष्य-पुत्र बनाऊँगा। मेरे पश्चात् मेरी सम्पत्ति का यही अधिकारी होगा। और इसके बदले में मैं आपको एक मकान दे दूँगा और सौ रुपया मासिक। यदि आप इस बात को स्वीकार कर लें तो मेरे यहाँ मानों बेटा हो गया, और आपको धन मिल गया।"

नानकचन्द को ऐसा जान पड़ा मानों कोई स्वर्गोपम स्वप्न देख रहे हों। उन्हें विश्वास न हुआ कि राय मुबारक राय सचमुच यह बात मन से कह रहे हैं। हिचकिचाते हुए बोले, "क्या आप यह बात हार्दिक-भाव से मेरे सामने रख रहे हैं?"

मुबारक राय के नेत्रों में आनन्द छलकने लगा; समझे मैदान मार लिया। बोले, "हाँ जो कह रहे हैं, मन से कह रहे हैं।"

"हम बालक से जब चाहें मिल सकेंगे?"

"जिस समय चाहो; मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।"

नानकचन्द सोचने लगे। एक ओर पुत्र-प्रेम था, दूसरी ओर संसार-सुख। हृदय एकाएक निश्चय न कर सका कि क्या करना चाहिए। अन्त में खड़े होकर बोले, "मैं अपनी गृहिणी से परामर्श करके आपको कल उत्तर दूँगा।"

यह बात सीता ने सुनी तो मानों आकाश से गिर पड़ी। उसने अनन्त को छाती से लगाया और बोली, "मुझे निर्धनता स्वीकार है, परन्तु बच्चा न बेचूँगी।"

नानकचन्द ने उपेक्षा भाव से कहा, "मूर्ख हुई हो। परमात्मा ने तीन पुत्र दिये हैं, एक कन्या। यदि इनमें से एक पुत्र दे दिया, तो क्या अन्धेर हो जायगा। और फिर कोई दूर नहीं; चार मिनट के रास्ते पर रहेगा। जब जी चाहे देख आना, कोई रोक-टोक नहीं।"

सीता ने उत्तर दिया, "यह सब कुछ ठीक है, परन्तु मैं अपना बच्चा न बेचूँगी।"

नानकचन्द ने जोश से कहा, "मेरी बात भी न मानोगी?"

"और सब मानूँगी, पर यह न मानूँगी। मैं माँ हूँ, डायन नहीं हूँ।"

"इसका मूल्य मेरा क्रोध होगा।"

"मुझे वह भी स्वीकार है।"

नानकचन्द को आशा न थी कि बात यहाँ तक बढ़ जायगी; कड़क कर बोले, "यह बात है तो फिर मैं भी जो मेरे जी में आयेगा करूँगा। देखता हूँ तुम मेरा हाथ कैसे पकड़ लेती हो?"

सीता ने यह सुना तो मूर्छित होकर गिर पड़ी, परन्तु नानकचन्द ने परवा न की, और रायबहादुर का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

(६)

अब नानकचन्द वे पहले नानकचन्द न थे। रायबहादुर की उदारता ने उन्हें मालामाल कर दिया। अब वे अच्छे घर में रहते थे, स्वच्छ वस्त्र पहनते

थे, साँझ-सवेरे गाड़ी में बैठकर हवा खाने जाते थे, उस समय उनकी आँखों में अभिमान खेलता था। परन्तु लोग उनसे प्रसन्न न थे। कोई कहता, भिखारी राजसिंहासन पर चढ़ बैठा है, परमात्मा रक्षा करे। कोई कहता जाति का नीच है, एकाएक रुपया मिल गया, आपे से बाहर हो रहा है, भूमि पर पाँव नहीं रखता। कोई कहता, सुना था लक्ष्मी अन्धी होती है, अब प्रत्यक्ष देख लिया। कोई कहता, बेटे के बदले धन मिला है, देखें परिणाम क्या होता है। अर्थात् जो जिसके जी में आता वही कह देता और ये बातें पीठ पर नहीं कभी-कभी सामने भी हो जाती थीं। ये वाक् न थे, वाक्-बाण थे। नानकचन्द आग हो जाते। वे कहते, मैं किसी को कष्ट नहीं देता, किसी का दिल नहीं दुखाता, फिर यह मुझसे ईर्ष्या क्यों करते हैं? रायबहादुर मुबारक राय मुझे रुपया देते हैं, मैं लेता हूँ, इससे लोगों के हृदय में शूल क्यों उठता है। मैंने कोई चोरी नहीं की, किसी पर डाका नहीं डाला, कोई पाप नहीं किया, फिर भी लोग मुझसे जलते हैं, इसका कारण क्या? मुझे देख कर उनके तन में आग लग जाती है, इसका उपाय क्या हो सकता है? मगर प्रतिदिन सोचने पर भी उनको कोई कारण समझ में नहीं आया, यहाँ तक कि उन्होंने इस बात पर विचार करना छोड़ दिया।

परन्तु ऐसा करने पर भी वह अनुभव करते थे कि जिस बात की आकांक्षा थी, वह पूरी नहीं हुई। उनकी स्त्री दिन-रात उदास पड़ी रहती थी। उठती तो सिर चकराता; बैठती तो आप-से-आप रोने लगती, सोती तो चौंक-चौंक उठती। उसे न बच्चों का ध्यान था न घर के काम-काज का। यहाँ तक कि उसे खाने पीने की भी सुध न थी। नौकर मनमाने कार्य्य करने लगे। प्रायः जब अवकाश होता तो कहते, ग़रीब घराने की स्त्री है, नौकरों से काम लेना क्या जाने। सीता यह सब कुछ देखती, परन्तु चुप रहती। उस पर जैसे कोई जादू हो गया था। नानकचन्द का जीवन दुःखमय हो गया। प्रायः सोचते, बड़ी भूल हुई, लक्ष्मी को और फूलों की शय्या समझ कर आये थे, परन्तु इसमें ऐसे तीक्ष्ण कंटक होते हैं, यह ज्ञान न था। उन्होंने पहले पहल तो विरोध का सामना किया। परन्तु अधिक काल तक न ठहर सके; जिस प्रकार कच्चा बाँध बाढ़ के जल को नहीं सँभाल सकता। बाहर निकलते तो लोगों की

नोक झोंक सुनते, घर जाते तो स्त्री की उद्विग्नता और बच्चों की ओर से उपेक्षा देखते। नानकचन्द घबरा गये। शुक्ल पक्ष में इतना अन्धकार देखकर उनके कलेजे में बाण सा लगा। उनका यह विचार कि धन में सुख है, सच्चा न निकला। हाँ, यह सिद्ध हो गया कि दुर्बल हृदय मनुष्य की प्रसन्नता दूसरों के वश में है।

नानकचन्द के नये मकान के निकट ही एक छोटी सी पुष्प-वाटिका थी, जिसे उन्होंने अपनी इच्छानुसार सजाया था। सायङ्काल सीता को वहाँ ले जाते और उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करते। परन्तु सीता की चिन्ता पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता। इससे पहले वह हँसमुख और चञ्चल थी, परन्तु अब उसके मुख पर कभी मुस्कराहट न झलकती थी। नानकचन्द जानते थे कि इस काया-पलट का कारण क्या है, परन्तु उसे ज़बान पर लाने का साहस न होता था। सीता का दुखित हृदय इसे भलीभाँति समझता था, परन्तु उसे प्रकट करना वह उचित न समझती थी।

(७)

इस हृदय-वेदना का परिणाम यह हुआ, कि सीता का शरीर दुर्बल हो गया और उसे हल्का-हल्का ज्वर रहने लगा, खाट से उठना कठिन हो गया। राय मुबारक राय को यह समाचार मिला तो उन्हें बहुत चिन्ता हुई। उन्होंने एक योग्य डाक्टर भेजा और साथ ही नर्सों का प्रबन्ध कर दिया, जो दिन रात उसके सिरहाने बैठी रहती थीं। परन्तु इतना करने पर भी सीता का रोग कम न हुआ। वह दिन-पर-दिन क्षीण होती गई, यहाँ तक कि नानकचन्द ने एक दिन डाक्टर से पूछा, "औषधि असर क्यों नहीं करती?"

डाक्टर ने विचित्र-सी दृष्टि से नानकचन्द की ओर देखा, और उत्तर दिया, "क्या करूँ, जहाँ तक हो सकता है कर रहा हूँ।"

"फिर फ़र्क़ क्यों नहीं होती?"

"इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता।"

नानकचन्द को चिन्ता हुई, उद्विग्न-से होकर पूछने लगे, "कहीं रोग असाध्य तो नहीं हो रहा। देखिए मुझे धोखे में न रखिए। जो बात हो साफ़-साफ़ कह दीजिए।"

डाक्टर ने खाँस कर उत्तर दिया, "इसका बचना अब कठिन है।"

नानकचन्द के मस्तक पर पसीना आ गया। रुक-रुक कर बोले, यदि किसी पहाड़ पर ले जाऊँ तो कैसा रहे ?"

"सर्वथा निरर्थक।"

"फिर कोई उपाय भी है या नहीं ?"

"एक उपाय है। उससे इनका बचना सम्भव है। और कोई उपाय नहीं !"

"क्या ?"

"आप वैसा करेंगे नहीं।"

नानकचन्द समझ गये, डाक्टर साहब क्या उपाय बतायेंगे। उनके कलेजे में घूँसा लगा। तथापि सँभल कर बोले, "मैं करूँगा ?"

"यह बच्चे के वियोग में मर रही है। उसकी वापसी इसके लिए संजीवनी बूटी हो जायगी। मैं मानता हूँ इसके लिए आपको भारी बलिदान करना होगा। परन्तु स्त्री सन्तान के सामने संसार के सर्वोत्तम पदार्थों को भी तुच्छ समझती है। क्योंकि वह उसके लिए अपनी देह को चीरती है, उसे अपना दुग्ध पिलाती है। इसमें सन्देह नहीं अब आपको सुख प्राप्त है, परन्तु इनका हृदय चौबीस घंटे अपने बच्चे के लिए रोता रहता है। जहाँ यह अग्नि सुलग रही हो वहाँ औषधि क्या कर सकती है ? इसलिए यदि आपको अपनी धर्म्म-पत्नी से प्रेम है, और इन्हें बचाने की इच्छा है, तो इसका बच्चा इन्हें वापस का दें, इनके रोग की यह अमोघ औषधि है।"

यह ख़याल नानकचन्द के मन में इससे पहले कई बार आ चुके थे। परन्तु दूसरे के मुख से सुन कर उनके पैर भूमि में गड़ गये। उन्होंने नीचे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "मैं स्वयं पछता रहा हूँ। कैसी भूल कर बैठा। आपके शब्दों ने मेरा विचार और भी दृढ़ कर दिया है। मैं इस सौदे को तोड़ दूँगा।"

"तो अभी तक लिखा-पढ़ी नहीं हुई ?"

"जी नहीं।"

"ज़रा हौसले के साथ बातचीत करना। उनके रोब में न आ जाना।"

"इसकी चिन्ता न करें, मैं सब कुछ ठीक कर लूँगा।"

नानकचन्द भले प्रकार जानते थे कि सीता के रोग का कारण अनन्त का

वियोग है, परन्तु उनको इस बात की आशङ्का न थी कि यह रोग अन्त को घातक सिद्ध होगा और इसी कारण वे इस समय तक सँभले हुए थे। परन्तु डाक्टर की सम्मति सुनकर उनका साहस टूट गया, और उन्होंने निश्चय कर लिया कि जितनी जल्दी हो सके बालक वापस ले आयें। इस अभिप्राय से उन्होंने अपना नौकर रायबहादुर मुबारक राय के घर पर भेज कर अनन्त का कुशल क्षेम पूछा। उत्तर आया, अनन्त भी ज्वर से बेसुध पड़ा है, और उसकी चिकित्सा सिविल सर्जन कर रहा है।

नानकचन्द के हृदय पर दूसरा आघात लगा। जल्दी से सीता के पास पहुँचे। वह नेत्र मूँदे पड़ी थी, नानकचन्द अधीर हो उठे। यही शरीर था, जिसे देख कर हृदय-कुसुम प्रफुल्लित हो जाता था; आज इस पर मुर्दनी छाई हुई थी। कभी वे दिन थे जब सीता सवेरे से साँझ तक काम-काज में लगी रहती थी और थकती न थी। आज उसके हाथों में इतनी भी शक्ति न थी कि मुँह से मक्खियाँ तक उड़ा सके। नानकचन्द के पाँव डगमगाने लगे, नेत्रों में जल आ गया; सीता की चारपाई पर बैठ कर रुद्ध कंठ से बोले, "सीता!"

सीता ने आँखें खोल दीं। जब से नानकचन्द ने उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका पुत्र रायबहादुर मुबारक राय को दे दिया था, उस दिन से उसने नानकचन्द से बातचीत करना बन्द कर दिया था। परन्तु इस समय उनका भर्राया हुआ स्वर सुन कर उसके नेत्रों से भी अश्रु बहने लगे। इन आँसुओं में उसका क्रोध बह गया। उसने धीरे से उत्तर दिया, "क्यों? रोने से क्या होगा, शान्ति करो।"

नानकचन्द को बात करने का साहस हुआ। काँपते हुए बोले, "मैं तुम्हारा अपराधी हूँ।"

सीता ने निश्चय कर लिया था कि मर जाऊँगी, पति से लड़का वापस लाने के लिए न कहूँगी। परन्तु पश्चात्ताप के दो शब्द सुनते ही क्रोध ने सिर झुका लिया। रोती हुई बोली, "मेरा अनन्त मँगवा दो, नहीं मैं राज़ी न हूँगी।"

नानकचन्द ने सीता की ओर सजल नेत्रों से देख कर उत्तर दिया, "मँगवा दूँगा।"

"कब तक?"

"कुछ बीमार है, चङ्गा हो लेने दो। इतने में तुम भी ठीक हो जाओगी।"

सीता समझ न सकी कि नानकचन्द का प्रयोजन मँगवाने से क्या है? मिलाने के लिए अथवा सदा के लिए। परन्तु स्पष्टतया पूछने का साहस भी न हुआ। सोच कर बोली, "यह घर छोड़ना होगा।"

नानकचन्द ने धीरता से उत्तर दिया, "छोड़ देंगे।"

"रुपये पैसे का फिर कष्ट होगा।"

"सह लेंगे।"

सीता का संकुचित मन आनन्द से खिल गया। मुस्कुरा कर बोली, "परन्तु आपको बहुत कष्ट होगा।"

नानकचन्द ने जोश से उत्तर दिया, "मैं दिन-रात के चौबीस घंटे काम करूँगा, सूखी रोटी खाना स्वीकार करूँगा परन्तु बच्चे को सुख-सम्पत्ति के लिए नहीं बेचूँगा।"

यह शब्द सुनकर सीता का हृदय आनन्द-सागर में लीन हो गया।

(८)

इसके दूसरे दिन दस बजे सीता ने नौकर को बुलाया और पूछा, "बाबूजी हैं?"

नौकर ने उत्तर दिया, "नहीं, उनकी छुट्टी पूरी हो गई है, दफ्तर गये हैं।"

"तो ताँगा ले आओ।"

"कहाँ जाना होगा?"

"रायबहादुर मुबारक राय के मकान तक जाऊँगी।"

नर्स ने यह सुना तो दंग रह गई और बोली, "यह नहीं होगा। आपका शरीर बहुत दुर्बल है।"

सीता ने उसकी ओर देखकर कहा, "तुम्हारी अपेक्षा अपना जीवन मुझे अधिक प्यारा है।"

"परन्तु डाक्टर ने मना किया है।"

"उसने मेरा रोग ही नहीं पहचाना, इलाज क्या करेगा। ताँगा ले आओ, मैं अपना बच्चा देखने जाऊँगी।"

नर्स ने फिर कहा कि इस अवस्था में जाना उचित नहीं। परन्तु सीता ने

कुछ ध्यान न दिया और ताँगे में बैठ गई। उसका सिर चकराता था। शरीर काँपता था। परन्तु बच्चे का प्यार उसे बल और साहस दे रहा था। रायबहादुर मुबारक राम के घर पहुँचकर वह उड़ती हुई उनके हाल कमरे में पहुँच गई। वहाँ उसका बच्चा एक बहुत बढ़िया पलङ्ग पर लेटा था और उसके सिरहाने बिजली का एक पंखा चल रहा था।

सीता मातृ-स्नेह की व्याकुलता से आगे बढ़ी, परन्तु एकाएक उसके पाँव रुक गये। विचार आया, यह सुख, यह आनन्द, यह ऐश्वर्य मेरे यहाँ कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसकी ख़ातिर जिस प्रकार रुपया पानी की नाईं यहाँ ख़र्च किया जाता है, वह मैं कैसे कर सकती हूँ? तो फिर इसे स्वर्ग से खींचकर नरक में ढकेलना क्या मातृ-स्नेह है? क्या मातृ-स्नेह यही है कि अपनी छाती ठंडी करने के लिए इसे टुकड़े टुकड़े के लिए मोहताज बना दूँ? क्या मातृ-स्नेह यही है कि इसके सुवर्ण-भविष्य को मिट्टी में मिला दूँ? भाग्य से गद्दी पर आ चढ़ा है। क्या अब इसे मातृ स्नेह फिर दरिद्रता के गढ़े में गिरा देगा?

यह सोचते-सोचते सीता को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उसके नेत्रों से एक परदा-सा हट गया है। उसने हृदय पर पत्थर रक्खा और उलटे पाँवों वापस मुड़ने को था कि अनन्त ने करवट बदली और सीता को देखकर कहा—"बी बी जी।"

सीता का धैर्य छूट गया। वह रोती हुई मुड़ी और अपने तीन मास के बिछुड़े हुए पुत्र से लिपट गई।

कुछ काल तक मौन का साम्राज्य रहा। ऐसा जान पड़ता था मानों किसी ने माँ बेटे दोनों पर जादू कर दिया है। एकाएक सीता ने अनन्त का मुँह चूम-कर पूछा, "क्यों बेटा, यहाँ रहेगा?"

अनन्त ने नेत्रों में आँसू भरकर उत्तर दिया, "न, मैं चल सकूँगा।"

"यहाँ मिठाई मिलती है?"

"हाँ, मिलती है।"

"तो यहाँ मिठाई न मिलेगी?"

"मिलेगी।"

"नहीं। वहाँ मिठाई नहीं है।"

"थोड़ी है ?"

"थोड़ी भी नहीं है।"

"अच्छा।"

"और अच्छे कपड़े भी नहीं।"

"घरवाले कपड़े गन्दे हैं ?"

"हाँ बेटा! घरवाले कपड़े गन्दे हैं ? अब बता यहाँ रहेगा ?"

अनन्त ने कुछ देर सोचा और फिर खड़ा होकर बोला, "न बीबी जी! चल चलूँगा।"

"यहाँ न रहेगा ?"

"न।"

"देख तो कैसा अच्छा घर है, कैसा सुन्दर पलँग है। हमारे घर में यह चीज़ें कहाँ ?"

परन्तु इन बातों का अनन्त के हृदय पर कोई प्रभाव न हुआ। धीर-भाव से बोला, "न, मैं घर चलूँगा।"

"वहाँ क्या है ?"

"फिर तू भी न जा।"

"मैं न जाऊँ तो तू यहाँ रहेगा ?"

"हाँ, रहूँगा ?"

"मैं चली जाऊँ तो······"

"मैं भी चलूँगा।"

सीता के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। वही बच्चे से प्रेम करती है, यह बात न थी। बच्चा भी घर के बिछोह में बीमार हो रहा था। इस अवसर पर माँ का हृदय फिर भर आया। वही मातृ-स्नेह जो बच्चे के भविष्य की खातिर अपने सुख की ओर से पराङ्मुख हो गया था, अब बच्चे की इच्छा पर अपना सुख लौटाने को उद्यत हो गया। कैसा आध्यात्मिक दृश्य है! कैसा पवित्र प्रेम! जिसकी उपमा संसार भर में नहीं मिलती।

सीता ने अनन्त को छाती से लगाया, और इस प्रकार भागी मानों वह

कोई चोर हो । दूसरे दिन इन दोनों का ज्वर उतर गया ।

यह समाचार राय बहादुर मुबारक राय ने सुना तो बहुत छटपटाये, परन्तु अभी लिखा-पढ़ी न होने के कारण कुछ न कर सके । हाँ, नानकचन्द को घर छोड़ना पड़ा और जो रुपये ले चुके थे, उनके लौटाने के लिए सीता के आभूषण बेचने पड़े ।

जब आभूषण बिक गये तो नानकचन्द ने हँसी से कहा, "लो, अब तुम्हारे आभूषण तो गये !"

सीता ने अनन्त की ओर इशारा करके उत्तर दिया, "मेरा यह अनमोल आभूषण मेरे पास रहे । परमात्मा से यही माँगती हूँ ।"

सीता और नानकचन्द अब भी जीते हैं । उनके दिन कष्ट से कटते हैं, परन्तु वे प्रसन्न रहते हैं । नानकचन्द पहले अपनी कङ्गाली पर कुढ़ते थे, परन्तु अब उनको किसी ने कभी उदास नहीं देखा ।

छाया

[नाटक]

पात्र—

चन्द्रगुप्त—भारत-सम्राट्।

छाया—एक पहाड़ी राज-कन्या।

वाचाल—चन्द्रगुप्त का मित्र।

चाणक्य—चन्द्रगुप्त का गुरु।

शिवा—चन्द्रगुप्त की माता।

कुमारी—छाया की सहेली।

❀ ❀ ❀ ❀

पहला दृश्य

स्थान—मगध का राजमहल

समय—दोपहर

(छाया और उसकी सहेली कुमारी)

कुमारी—

लो वह दिन आ गया, जिसके लिए आप और महाराज, दोनों तड़प रहे थे। सड़कें सज रही हैं, बाज़ार साफ़ हो रहे हैं, और राज-दरबारी—

छाया—

कितनी प्रतीक्षा के बाद यह दिन देखने को मिला है! आज महाराज के हर्ष की कोई सीमा नहीं। जब आज प्रातःकाल मुझसे मिलने के लिए आये, तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों सारे संसार का आनंद उन्हीं को मिल गया है। सखि! तुमसे क्या पर्दा है। उनको मुझसे प्यार है; और जब वह अपने मुख से उसे प्रकट करते हैं तो मैं लज्जा से पृथ्वी में गड़ जाती हूँ।

कुमारी—

क्यों?

छाया—

पहले उनकी पदवी का ध्यान करो, और फिर मेरी ओर देखो। वह आज भारतवर्ष के सम्राट् हैं। उनके मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द क़ानून है। और, मैं एक छोटे-से पहाड़ी राजा की लड़की हूँ। मैं उनके सामने क्या चीज़ हूँ!

कुमारी—

राजकुमारी! यह तुम्हारी भूल है—

छाया—

परन्तु फिर भी, वह मुझे प्यार करते हैं, मुझे चाहते हैं, मेरे बिना रह नहीं सकते।

कुमारी—

प्यार के खेल निराले हैं!

छाया—

कहते थे, तुम मुझे संसार की प्रियतम वस्तुओं से भी प्रियतम हो। यदि मुझे भारतवर्ष का शासन छोड़ना पड़े, तो तुम्हारे लिए उसे भी छोड़ दूँगा।

कुमारी—

क्यों न हो, तुमने दो बार उनका जीवन बचाया है।

छाया—

तो क्या वह मुझसे इसलिए प्रेम करते हैं! सखि! तुम महाराज को नहीं जानतीं। तुम उनकी प्रकृति से नितांत अपरिचित हो। तुमने उनके

प्यार का, उनके भाव का, उनके शील का अपमान किया है। क्या मैंने उनके प्राण बचाकर उन पर उपकार किया है?

कुमारी—

क्यों नहीं? मेरा तो यही विचार है।

छाया—

परन्तु यह ठीक नहीं। यदि सेवक अपने स्वामी के प्राण बचाता है, तो क्या उस पर उपकार करता है? यदि एक सैनिक अपने सेनापति पर आक्रमण होते देखकर तलवार निकालकर आगे बढ़ता है, तो क्या वह उस पर उपकार करता है? नहीं, यह उसका कर्त्तव्य है, यह उसका मनुष्यत्व है। और यहाँ, मेरी अवस्था में—ओह! तुमने कुछ नहीं समझा। कुमारी! वह भारतवर्ष के लिए लड़ रहे थे, विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण को रोकने के लिए अपने प्राणों को हथेली पर लिये हुए थे। ऐसी अवस्था में यदि मैंने उनकी रक्षा के लिए कुछ किया, तो वह उन पर कोई उपकार नहीं, यह मेरा धर्म था। क्या मैंने भारत की मिट्टी से जन्म नहीं लिया? क्या मैंने इसका अन्न नहीं खाया, इसका जल नहीं पीया, इसकी हवा में श्वास नहीं लिया?

कुमारी—

सचमुच तुमने जो कुछ किया, वह तुम्हारा धर्म था। परन्तु क्या महाराज इसे भूल सकते हैं? मैं यह नहीं मान सकती।

छाया—

वह नहीं भूल सकते, उन्हें नहीं भूलना चाहिए, वह नहीं भूलेंगे। परन्तु मुझ पर उनके प्रेम का यही कारण है, यह मैं कभी नहीं मान सकती। क्या तुम्हारा यह विचार है कि कल को यदि कोई और स्त्री महाराज पर आई हुई विपत्ति टालने के लिए अपना जीवन जोखिम में डाल दे, तो महाराज उससे भी प्रेम करने लगेंगे? कुमारी! वीरों के हृदय इतने सस्ते नहीं होते!

कुमारी—

तो तुम्हारे विचार में वह तुमसे क्यों प्रेम करते हैं?

छाया—

इसलिए कि वह जानते ही नहीं, बल्कि उनको विश्वास है कि छाया मेरी

पूजा करती है, मेरे सिवा किसी अन्य पुरुष की ओर नहीं देखती। उनका प्रेम-भरा हृदय मेरे इस भाव पर मुग्ध है; नहीं तो मुझ-जैसी लड़कियाँ --ओह ! मुझ पर वह कितनी दया करते हैं। कुमारी ! वह मनुष्य नहीं, देवता हैं। मैं उनकी पूजा करती हूँ।

(चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त—

किसकी पूजा करती हो ? बस, शरमा गईं ! लो; मैं जाता हूँ, समझ गया। तुम्हें मेरा आना नागवार गुज़रा है।

छाया—

नहीं महाराज ! नहीं। मैं—

(कुमारी का प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त—

सब समझता हूँ प्रिये ! मैं सब समझता हूँ। उठो, ज़रा इधर आओ, और बाहर की ओर देखो।

(छाया चन्द्रगुप्त के निकट आकर दरीचे से बाहर की ओर झाँकती है।)

छाया—

ऐसा प्रतीत होता है कि आज प्रत्येक नगर-निवासी अपने शरीर की संपूर्ण शक्तियों से काम कर रहा है।

चन्द्रगुप्त—

क्यों न करें। आज उनके सम्राट् का विवाह है।

छाया—

(एकाएक उदास होकर) परन्तु महाराज !—

चन्द्रगुप्त—

क्यों छाया ! यह तुम्हें क्या हो गया ? तुम्हारे मुख का रंग सहसा क्यों बदल गया ? तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों आ गये ? तुम्हारा मीठा स्वर एकाएक दुःख और शोक के सागर में क्यों डूब गया ? आज के दिन, जब कि संसार में तुम्हें सबसे अधिक प्रसन्न होना चाहिए, तुम रो रही हो। कहो, इसका क्या कारण है ?

छाया—

महाराज ! मैं—(फिर रुक जाती है।)

चन्द्रगुप्त—

कहो प्यारी छाया ! कहो। मुझे तुम्हारा उदास मुख, शोकातुर नेत्र और कंपित स्वर व्याकुल किये देते हैं।

छाया—

महाराज ! इसी प्रेम का विचार मुझे अधीर कर रहा है। (एकाएक आँखें उठाती और फिर सिर झुका लेती है।)

चन्द्रगुप्त—

(व्याकुलता से खड़े होकर) अर्थात ?

छाया—

महाराज ! मैं ग़रीब हूँ, मैं आपके योग्य नहीं। परन्तु आप फिर भी मुझे चाहते हैं, इतना प्यार करते हैं। मैं संसार में सबसे बढ़कर सौभाग्यवती हूँ; क्योंकि मैंने आपका प्रेम जीत लिया है। मगर सोचती हूँ, क्या यह प्रेम इसी प्रकार बना रहेगा ? महाराज ! यदि आपकी आँखें ज़रा भी बदली हुई दिखाई दीं, तो—(आँखों में आँसू भर आते हैं।)

चन्द्रगुप्त—

(तेज़ी से) छाया ! इस व्यर्थ विचार को हृदय से दूर कर दो। क्या तुम मेरे प्रेम की परीक्षा करना चाहती हो—मैं इसके लिए हर घड़ी तैयार हूँ।

छाया—

(घबराकर) नहीं महाराज ! नहीं। मेरा तात्पर्य यह कभी न थी।

चन्द्रगुप्त—

(नम्रता से) तो फिर आज के दिन की खुशी को, जो मेरे और तुम्हारे जीवन का एक विशेष दिन है, एक कल्पित भ्रम के कारण क्यों नष्ट किये देती हो ? छाया ! चन्द्रगुप्त बाहर सम्राट् है, शक्ति-संपन्न है, गौरवशाली है, परन्तु तुम्हारे सामने वह प्रेम और केवल प्रेम का भिखारी है। प्रेम चाहता है, प्रेम माँगता है, उसे और किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं। राजपाट, शासन,

कीर्त्ति, विजय, सब तुम्हारे सामने इसी प्रकार तुच्छ हैं, जिस प्रकार सूर्य के सामने तारे।

छाया—

बस, महाराज! बस। मुझे और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, मैं केवल आपका प्रेम चाहती हूँ।

चन्द्रगुप्त—

वह सदैव तुम्हारा है।

छाया—

और सदैव इसी प्रकार मेरा रहेगा?

चन्द्रगुप्त—

सदैव।

छाया—

यह आँखें इसी प्रकार प्रेम में डूबी रहेंगी?

चन्द्रगुप्त—

बराबर।

छाया—

तो संसार में मुझ-सा भाग्यशाली कोई दूसरा नहीं हो सकता।

चन्द्रगुप्त—

हो सकता है, प्यारी छाया! तुमसे बढ़कर भी हो सकता है।

छाया—

वह कौन?

चन्द्रगुप्त—

मैं, मेरी प्यारी छाया! मैं। कुछ घंटों के बाद आज ही रात को तुम मेरी अपनी हो जाओगी, और संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें मुझसे अलग न कर सकेगी।

छाया—

परमात्मा करे, वह समय शीघ्र आवे। मेरी आत्मा उसके लिए अधीर हो रही है।

चन्द्रगुप्त—

तुम्हारे पास से उठने को जी नहीं चाहता। परन्तु, क्या करूँ, मेरा राज-काज मुझे बाहर बुला रहा है। अच्छा तो, हृदयेश्वरी! आज्ञा है?

छाया—

जाइए महाराज! जाइए।

चन्द्रगुप्त—

(जाने के लिए उठते हुए) यह महाराज-महाराज सुनते-सुनते तो मैं ऊब गया।

छाया—

तो फिर आप क्या चाहते हैं? (चौकी से उठ खड़ी होती है।)

चन्द्रगुप्त—

मुझे किसी और सुन्दर शब्द से पुकारो।

छाया—

वह कौन-सा सौभाग्यशाली शब्द है, जो मेरे महाराज को पसन्द है?

चन्द्रगुप्त—

वही जिसे भारतीय ललनाएँ अपने पति के लिए प्रयोग करती हैं।

छाया—

अर्थात्?

चन्द्रगुप्त—

इस 'अर्थात्' को मेरी अपेक्षा तुम अधिक जानती हो।

छाया—

बहुत अच्छा, तो वह शब्द आज रात को आप ही के लिए हो जायगा।

चन्द्रगुप्त—

और इस समय नहीं?

छाया—

(सलज्ज भाव से) जी नहीं।

चन्द्रगुप्त—

परन्तु, क्यों?

छाया—

विवाह हो जाने दीजिए। कुछ ही घंटे तो बाकी हैं।

(प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त—

प्रेम की देवी प्रेम के सिवा और कुछ नहीं चाहती। मुझे अंतःकरण से प्यार करती है। मेरे भाग्य में किसे संदेह हो सकता है ?

(प्रस्थान)

(छाया और कुमारी का प्रवेश)

छाया—

चले गये ? मेरा ख़याल था, अभी यहीं होंगे।

कुमारी—

तो बुला लाऊँ, या आप उनसे बाहर ही भेंट करेंगी ?

छाया—

कौन ? तुम किसकी बात कर रही हो ? मैंने कुछ नहीं सुना। मैं किसी और विचार में मग्न थी। और तुम जानती हो, वह विचार क्या था।

कुमारी—

(हँसकर) ख़ूब जानती हूँ। आप महाराज के विषय में कुछ सोच रही थीं।

छाया—

तुम बड़ी चतुर हो गई हो !

(छाया फिर किसी गहरे विचार में डूब जाती है। कुमारी उसकी ओर देखती रहती है। एकाएक छाया अपने विचार से चौंकती है।)

छाया—

कुमारी !

कुमारी —

महारानी !

छाया—

मूर्खे ! इस शब्द को अभी रहने दे—केवल आज दिन-भर—समझ गई। —हाँ, तुम किसकी बात कर रही थीं ? मुझसे कौन मिलना चाहता है ?

कुमारी—

वाचाल बाहर खड़े हैं, और थोड़े समय के लिए आज्ञा चाहते हैं।

छाया—

वाचाल? थोड़े समय के लिए? आज्ञा? (सोचती है।) बहुत अच्छा, बुला लाओ। मैं उनसे यहीं मुलाक़ात करूँगी।

कुमारी—

जो इच्छा। (जाती है।)

छाया—

आज उसके आने का क्या प्रयोजन हो सकता है? वह मुझसे क्या चाहता है? अभागा युवक विवाह से अभी तक इन्कार किये जा रहा है।

(वाचाल और कुमारी का प्रवेश)

वाचाल—

मैं क्षमा चाहता हूँ कि—

छाया—

आइए महाराज! आइए, मैं आपका स्वागत करती हूँ, कहिए, आप कुशल से तो हैं?

वाचाल—

परमात्मा की दया है।

छाया—

इस समय के शुभागमन का क्या कारण है?

वाचाल—

देवी! मैंने और आपने बरसों एक जगह रहकर बिताये हैं। बाल्यावस्था में हम दोनों एक साथ खेले हैं। आपको स्मरण होगा, एक बार मैंने आपसे अपना प्रेम प्रकट किया था, और—

छाया—

और क्या मैंने तब और उसी स्थान पर नहीं कह दिया था, कि मैं यह शब्द तुम्हारे मुख से दूसरी बार नहीं सुनना चाहती।

वाचाल—

और क्या मैंने आपकी इस आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन नहीं किया ?

छाया—

फिर इस समय—

वाचाल—

इस समय के लिए क्षमा कर दीजिए; क्योंकि मैं आपसे सदा के लिए बिदा होनेवाला हूँ। फिर दुबारा इस अभागे का मुख आपके सामने न होगा। जब मैंने आपको देखा, उस समय मुझे यह ख़याल न था कि मेरे प्रेम को इस प्रकार निर्दयता से चूर-चूर कर दिया जायगा।—परन्तु चन्द्रगुप्त सुन्दर है, सम्राट् है। तथापि—

(ठंडी साँस भरता है।)

छाया—

इस कहानी को दोहराने की इस समय क्या आवश्यकता है ?

वाचाल—

मैं इस प्रतीक्षा में था कि मेरा सोया हुआ भाग्य कदाचित् फिर जाग उठे। परन्तु आज अंतिम निश्चय हो गया कि मेरी आशाओं का कोई आधार नहीं, मेरे लम्बे स्वप्नों का कोई स्वप्न-फल नहीं।

छाया—

वाचाल ! मैंने तुमसे बहन का-सा प्रेम किया है, और इस समय तक करती हूँ। परन्तु क्या तुम समझते हो, किसी पुरुष को यह अधिकार प्राप्त है, कि वह किसी स्त्री के विवाह-दिवस को इस प्रकार की दुःखप्रद स्मृति से शोकमय बना दे ?

वाचाल—

परन्तु मैं आपसे बिदा हो रहा हूँ। इसलिए चाहता हूँ कि बिदाई से पहले अपना हृदय उस स्त्री के सामने रख दूँ, जिसे मैं अपने अंतःकरण में प्रेम करता आ रहा हूँ। (ठहरकर) अब मेरा हृदय भारी हो गया है। मुख से बोलने की शक्ति क्षीण हो रही है। अस्तु, आज्ञा दीजिए, अब बिदा होता हूँ। मैं जब तक जीऊँगा, तुम्हें आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से प्रेम करता रहूँगा। परन्तु

तुम्हारे सम्मुख कभी उसे प्रकट न करूँगा, न कभी सामने आऊँगा। मगर हाँ, यदि तुम कभी सुनो कि वाचाक मर गया, तो शोक न करना कि कभी वह जीता था; और उसकी सारी आशाएँ तुम्हारे साथ लगी हुई थीं।

(वेग से प्रस्थान)

कुमारी—

अभागा नरेश! इसकी दशा पर मुझे बरबस दया आ रही है। कितना वीर है, कितना सदाचारी! आह—

छाया—

बस, जाने दो, मैं सिवा महाराज के और किसी के मुख से प्रेम की बात-चीत सुनना नहीं चाहती। और आज मेरे विवाह का दिन है।—कुमारी! कुमारी!

कुमारी—

महारानी!

छाया—

देखो, महाराज कहाँ हैं?

कुमारी—

क्यों? उनसे अब क्या काम है?

छाया—

मैं उनसे एक बात कहना चाहती हूँ।

(कुमारी जाती है और बाहर इधर-उधर देखकर लौट आती है।)

कुमारी—

महारानी! महाराज तो बाहर चले गये।

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरा दृश्य

स्थान—राजमहल का दूसरा कमरा

समय—तीसरा पहर

(चन्द्रगुप्त और वाचाल)

चन्द्रगुप्त—

वाचाल ! यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? आज के दिन तुम्हारा वियोग ? नहीं भाई ! नहीं, यह मैं कभी नहीं मान सकता, मैं कभी नहीं मानूँगा ।

वाचाल—

महाराज ! इस दिन के लिए मैं बहुत समय से तरस रहा था । मैं झुँझला उठता था कि यह दिन क्यों शीघ्र नहीं आता । महाराज के गले में विवाह की जयमाला देखने के लिए मैं अधीर हो रहा था मैं समझता था, उस दिन आनंद और हर्ष से पागल हो जाऊँगा ।

चन्द्रगुप्त—

परन्तु ?

वाचाल—

देवताओं की क्या इच्छा . यह मैं नहीं जानता था । आज सारे मगध में मुझ-सा हताश, दुखी, शोकातुर दूसरा कोई आदमी न होगा । इसलिए मैं चाहता हूँ कि जितनी जल्दी हो सके, मेरा व्याकुल और शोकमय शरीर इस नगर से दूर चला जाय । मैं इस समय उस उल्लू के समान हूँ, जिसे व्याह-शादियों के अवसर पर अशुभ समझा जाता है । मैं उस कंकर की तरह हूँ, जिसे खीर के थाल में देखना कोई पसन्द नहीं करता ।

चन्द्रगुप्त—

वाचाल ! यह तुम क्या कह रहे हो ? (आगे बढ़कर और उसके कन्धे पर हाथ रखकर) मेरी ओर ध्यान दो । बताओ, तुम्हें क्या दुःख है ? मैं तुम्हें प्रसन्न देखने के लिए अधीर हो रहा हूँ । तुम्हें याद है, तुमने समरभूमि में मेरे लिए विजय प्राप्त की थी—कई अवसरों पर अपने प्राणों को जोखिम में डाल दिया था ?

वाचाल—

(पहलू बदलकर) और यह मेरा कर्त्तव्य था।

चन्द्रगुप्त—

तुमने अपना कर्तव्य पूरा किया, अब मेरी बारी है। मैं अपना कर्त्तव्य पूरा करने का यह अवसर हाथ से न जाने दूँगा—संसार क्या कहेगा! कहेगा, वाचाल ने अपने कर्तव्य के लिए सब कुछ किया; परन्तु चन्द्रगुप्त ने उसकी बहुमूल्य सेवाओं का कुछ मूल्य न समझा। नहीं, नहीं, मैं यह नहीं होने दूँगा। वाचाल!

वाचाल—

महाराज!

चन्द्रगुप्त—

कहो, बोलो, बताओ, तुम्हें क्या दुःख है? मैं उसे दूर करने के लिए सब कुछ करने को उद्यत हूँ। मेरा सुख तुम्हारे दुःख का बोझ नहीं सँभाल सकता।

वाचाल—

(चुप रहता है।)

चन्द्रगुप्त—

बोलते क्यों नहीं—उत्तर क्यों नहीं देते?

वाचाल—

महाराज! मुझे चुप रहने दीजिए। आपको सुनकर क्लेश होगा।

चन्द्रगुप्त—

इसकी परवा न करो। मैं तुम्हारे दुःख को दूर कर दूँगा। बतलाओ। मैं तुम्हारा सम्राट् हूँ।

वाचाल—

(कुछ आशा-युक्त भाव से) आप उसे दूर कर देंगे?

चन्द्रगुप्त—

यदि यह किसी सम्राट् की शक्ति में है।

(सेवक का प्रवेश)

सेवक—

महाराज की जय हो!

चन्द्रगुप्त—

कौन है?

सेवक—

राजगुरु चाणक्य महाराज आये हैं।

चन्द्रगुप्त—

गुरुदेव!

सेवक—

जी महाराज!

(चन्द्रगुप्त और वांचाल दोनों जाते और चाणक्य के साथ लौटते हैं।)

चन्द्रगुप्त—

महाराज! पधारिए।

चाणक्य—

(बैठते हुए) चन्द्रगुप्त!—

चन्द्रगुप्त—

(दूसरी चौकी पर बैठकर) महाराज!—

चाणक्य—

आज तुम्हारा विवाह है?

चन्द्रगुप्त—

हाँ गुरुदेव।

चाणक्य—

तुम मेरे शिष्य हो?

चन्द्रगुप्त—

मुझे इस पर अभिमान है?

चाणक्य—

तुमने सदैव मेरा कथन स्वीकार किया है?

चन्द्रगुप्त—

और सदैव करूँगा ।

चाणक्य—

सदैव ?

चंद्रगुप्त—

हाँ गुरुदेव ! सदैव । मेरे कंधे आपके उपकारों से दबे जाते हैं ।

चाणक्य—

यदि कोई बात तुम्हारे विचार के विरुद्ध हो, तब ?

चन्द्रगुप्त—

मैं यही समझूँगा कि मेरी बुद्धि की भूल है ।

चाणक्य—

मुझे तुमसे यही आशा थी । अच्छा, तो सुनो, मैं तुम्हारी परीक्षा करनी चाहता हूँ ।

चन्द्रगुप्त—

(व्याकुल होकर) गुरुदेव !

चाणक्य—

छाया कुमारी से विवाह न करो ?

चन्द्रगुप्त—

(खड़े होकर घबराये हुए) महाराज !

चाणक्य—

यह चाणक्य की आज्ञा है ।

चन्द्रगुप्त—

परन्तु—

चाणक्य—

तुम्हारी बुद्धि भूल कर सकती है । मैं जो कुछ कहता हूं, तुम्हारे हित के लिए कहता हूँ । यह विवाह न होगा ।

चन्द्रगुप्त—

परन्तु, क्यों ?

चाणक्य—

राजगुरु प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

चन्द्रगुप्त—

(सिर झुकाकर) मैं क्षमा चाहता हूँ।

चाणक्य—

(दयादृष्टि से देखकर) चंद्रगुप्त !

चन्द्रगुप्त—

महाराज !

चाणक्य—

तुम सम्राट् हो। तुम्हारे शरीर पर देश और जाति का अधिकार है।

चन्द्रगुप्त—

मैं इसे स्वीकार करता हूँ।

चाणक्य—

छाया एक साधारण राज-कन्या है।

चन्द्रगुप्त—

इसलिए—

चाणक्य—

उससे तुम्हारा विवाह भारतवर्ष को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।

चन्द्रगुप्त—

परन्तु मेरा हृदय गुरुदेव—

चाणक्य—

भारतवर्ष तुमसे बलिदान चाहता है। तनिक बाहर निकलो, और सुनो। लोग तुम्हारी निंदा कर रहे हैं। क्या तुम इसे पसंद करोगे ?

चन्द्रगुप्त—

(अत्यन्त नम्रता से) यदि केवल निंदा का प्रश्न है, तो मैं छाया और उसके प्रेम के सामने उसकी कुछ परवा नहीं करता।

चाणक्य—

और भारतवर्ष ? नहीं, तुम्हें यह विवाह नहीं करना चाहिए।

चन्द्रगुप्त—

मैं छाया के सामने सारे संसार को तुच्छ समझता हूँ।

चाणक्य—

तो क्या यह विवाह नहीं रुकेगा ?

चन्द्रगुप्त—

(दृढ़ विश्वास के साथ) नहीं।

चाणक्य—

नहीं ?

चन्द्रगुप्त—

महाराज ! छाया का जीवन नष्ट हो जायगा। मैंने उससे प्रेम की प्रतिज्ञा की है। वह मुझे संसार-भर में सब से अधिक चाहती है। मैं उससे क्या कहूँगा ? अभी-अभी मैं उसके सामने प्रेम की शपथ खा रहा था। अब जब वह सुनेगी—ओह ! उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। वह सोचेगी, क्या यह भी संभव है, क्या यह भी हो सकता है ? उसको मनुष्यत्व से घृणा हो जायगी। वह पुरुषों के संसार को झूठा समझने लगेगी। वह इस आघात से जीवित न रह सकेगी।

चाणक्य—

तो तुम यह नहीं कर सकते ?

चन्द्रगुप्त—

महाराज ! मुझ में यह शक्ति नहीं।

चाणक्य—

और तुम यह नहीं करोगे ?

चन्द्रगुप्त—

मैं नहीं कर सकता।

चाणक्य—

तो मैंने तुम्हें आज तक न समझा था। तुमने अपनी वीरता से जो कुछ प्राप्त किया है, उसे क्या अब एक साधारण लड़की के लिए मिट्टी में मिला दोगे ? तुम्हारा देश तुम से पुकार-पुकार कर कह रहा है कि यह विवाह न

करो; परन्तु तुम प्रेम में अंधे होकर उसकी कोई परवा नहीं करते। परिणाम यह होगा कि यह राज्य मिट्टी में मिल जायगा। चन्द्रगुप्त! तुम्हें सोचना और समझ लेना चाहिए कि तुम देश के लिए अपना प्रेम भी निछावर कर सकते हो। देश तुम पर अभिमान करेगा, भावी संतान तुम्हारा नाम लेकर सिर झुकाएगी। बोलो, तुम्हें स्वीकार है?

चन्द्रगुप्त—

मैं क्या कर सकता हूँ। महाराज! यह परीक्षा बड़ी कठिन है।

चाणक्य—

चन्द्रगुप्त, वत्स! अपने देश की ओर देखो।

चन्द्रगुप्त—

इससे उसे क्या लाभ होगा?

चाणक्य—

यह मैं जानता हूँ।

चन्द्रगुप्त—

(ठंडी साँस भरकर) बहुत अच्छा, परन्तु—

चाणक्य—

अब तुम चन्द्रगुप्त के योग्य बातें कर रहे हो। उठो, मेरे साथ आओ; और तुम वाचाल—

वाचाल—

(सिर झुकाकर) महाराज!

चाणक्य—

छाया के पास जाकर उससे कह दो कि यह विवाह नहीं हो सकता। किसी तरह नहीं हो सकता। यह चन्द्रगुप्त का निश्चय है।

वाचाल—

बहुत अच्छा।

चाणक्य—

आओ बेटा! इसकी घोषणा की जाय, जिससे लोगों को मालूम हो कि तुम कितने वीर, धीर और महान हो।

(दोनों का प्रस्थान)

वाचाल—

आशा ! क्या तू फिर मुझे धोखा दे रही है ? या सचमुच मेरे अंधकारमय जीवन में प्रकाश की किरण चमकने को है ? परन्तु नहीं, तेरा कोई विश्वास नहीं। तूने मुझे पग-पग पर धोखा दिया है। मगर क्या अब—कौन, वही आ रही है। परमात्मन् ! मैं क्या करूँ, उससे कैसे कह सकूँगा ? उसका हृदय इसे कैसे सहन कर सकेगा। हाय ! मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा रहा है।

(वाचाल कुर्सी को थामकर आँखों पर हाथ रख लेता है। छाया और कुमारी आती हैं। छाया वाचाल के निकट जाती है और एकाएक चौंक पड़ती है।)

छाया—

कौन, वाचाल ! तुम अभी तक नहीं गये ?

वाचाल—

यदि मैं अब तक नहीं गया, तो यह मेरा नहीं, महाराज का दोष है।

छाया—

महाराज का दोष ?

वाचाल—

मुझे उन्होंने नहीं आने दिया। मेरे पास उनका एक आवश्यक संदेसा है।

छाया—

किसके लिए ? क्या मेरे लिए ?

वाचाल—

हाँ राजकुमारी।

छाया—

क्या ?

वाचाल—

छाया ! क्या ही अच्छा होता; यदि यह काम मुझे न सौंपा जाता। महाराज के पास सैकड़ों दास हैं। क्या वह उनमें से किसी दूसरे को न तैनात कर सकते थे ?

वाचाल—

बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो ? मैं अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकती।

वाचाल—

क्रोध न करो। यदि मेरी जगह पर कोई दूसरा होता, तो निस्संदेह आनन्द से पागल हो जाता, और एक क्षण भी व्यर्थ गँवाना पसन्द न करता। परन्तु मैं—ओह ! मुझे तुमसे अभी तक प्रेम है, और मैं तुम्हारे तनिक-से दुःख के सामने अपने जीवन की बड़ी-से-बड़ी प्रसन्नता को तुच्छ समझता हूँ। इसीलिए मैं तुम से वह बात नहीं कह सकता, और न कह सकूँगा। राजकुमारी ! मैं जाता हूँ।

(जाना चाहता है)

छाया—

ठहरो वाचाल ! ठहरो। अभी-अभी तुमने कहा है कि तुम मुझे दुःख देना नहीं चाहते, और मेरे तनिक से कष्ट पर अपने जीवन का बड़े से बड़ा सुख निछावर कर सकते हो। तो फिर मेरी ओर देखो। मेरी आँखों के आँसू देखो, और उस कष्ट का विचार करो, जो मेरे हृदय को अंधकारमय बना रहा है। यदि तुमको मुझसे कभी प्रेम था—(कुछ ठहरकर) कहो, महाराज ने क्या कहा है ?

वाचाल—

राजकुमारी !—

छाया—

परमात्मा के लिए कहो।

वाचाल—

नहीं राजकुमारी ! मुझे क्षमा किया जाय।

छाया—

तो मेरी इच्छा कोई वस्तु नहीं ?

वाचाल—

तुम मुझसे घृणा करने लगोगी।

छाया—

बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो—भारतवर्ष का एक पुरुष किसी स्त्री का इतना अपमान नहीं कर सकता।

वाचाल—

तो राजकुमारी! तैयार हो जाओ। परमात्मा तुम्हें लोहे का कलेजा और पत्थर का हृदय दे। महाराज ने आज्ञा दी है—

छाया—

(घबराहट से) क्या आज्ञा?

वाचाल—

तुमसे कह दूँ कि उनका और तुम्हारा विवाह अब नहीं हो सकता।

छाया—

(अत्यन्त व्याकुलता से) क्या—विवाह?— मेरा और उनका?—नहीं हो सकता?—यह तुम कहते हो?

वाचाल—

राजकुमारी! मैं नहीं, महाराज कहते हैं। यह महाराज ने कहा है। उनके साथ अन्याय न करो। वह रो रहे थे। उनके नेत्रों में आँसू और मुख पर सफेदी थी। हाथ-पैर काँप रहे थे। वह तुमसे प्रेम करते हैं। परंतु यह राज्य, यह सिंहासन—ओह! राज्य कितना महँगा है। इसे सुरक्षित रखने के लिए वह तुमसे वियुक्त होने को बाध्य किये गये हैं।

छाया—

हाय! कुमारी, तुम सुन रही हो, वह बाध्य किये गये हैं।

कुमारी—

एकाएक यह हो जायगा, इसका ख़याल भी न था।

छाया—

(रोते हुए) महाराज सदैव मेरे सम्मुख प्यार की नई-नई क़समें खाते थे। वह मुझे इस तरह छोड़ देंगे; इसका मुझे स्वप्न में भी ख़याल न था। मुझे अब भी विश्वास नहीं होता। (रोना बन्द करके) वह मुझे नहीं छोड़ सकते, मुझे नहीं छोड़ेंगे। यह जाल, यह कपट केवल मुझे नाश करने के लिये है।

यह महाराज का संदेसा नहीं, टूटे हुए हृदय का अंतिम ार है—ठुकराए हुए प्रेम का प्रतीकार है। (वाचाल की ओर देखकर) वाचाल!

कुमारी—

एक शब्द—

छाया—

(अपने कथन को जारी रखते हुए) तुमने जो कुछ कहा, उसके एक शब्द पर भी मुझे विश्वास नहीं है। तुम झूठ बोलते हो और इस घृणित उपाय से उस स्त्री का प्रेम प्राप्त करना चाहते हो, जो तुमसे प्रेम नहीं करती। महाराज ने तुम पर विश्वास किया—महाराज तुमपर विश्वास करते हैं, और उन्होंने तुम्हें अपने महल के अंदर आने-जाने की अनुमति दे रक्खी है। क्या यह उसी दया का बदला है? तुम स ाते हो, वह मुझसे फिर जायेंगे, तो मैं तुम्हारे पैरों की ओर दौड़ी आऊँगी। परंतु—

वाचाल—

राजकुमारी!

छाया—

तुमने स्त्री के हृदय को अ ा तक नहीं समझा। वह एक ही बार प्रेम करती है, एक ही पुरुष से प्रेम करती है। और जब उसमें विफल होती है, तो संसार भर के सुखों पर लात मार देती है। उसे धोखा देना सहज नहीं।

वाचाल—

राजकुमारी!

छाया—

तुम्हारी कुचेष्टा असफल रही। मुझे तुम्हारी बात पर रत्ती भर भी विश्वास नहीं है।—कुमारी! आओ चलें, मैं महाराज से अभी मिलूँगी। पता लगाओ, वह किस कमरे में हैं?

(छाया और कुमारी दोनों चली जाती हैं। वाचाल आश्चर्य से खड़ा रह जाता है, मानो वह मनुष्य नहीं, मिट्टी की मूर्ति है। सहसा वेग से जाना चाहता है! फिर रुक जाता है और अपने आपसे यों बातें करने लगता है।)

वाचाल—

यह ठुकराये हुए प्रेम का बदला है!—उसने यह शब्द क्यों कहे? क्या उसने मुझे इतना नीच, इतना कमीना समझ लिया—परंतु नहीं, यह उसका नहीं, उसके प्रेम का दोष है। उसे महाराज से प्रेम है, और प्रेम की आँखें नहीं होतीं। वह सर्वथा निर्दोष है।

(प्रस्थान)

❀ ❀ ❀ ❀

तीसरा दृश्य

स्थान—छाया का कमरा

समय—सन्ध्या

(छाया उदास बैठी है। कुछ देर तक वह उसी अवस्था में बैठी रहती है। एकाएक उठती है और दरवाज़े की ओर आती है। फिर लौटती है, फिर देखती है, और फिर पागलों की तरह अपने आप बातें करने लगती है।)

छाया—

कुमारी अभी तक नहीं आई। ओह! समय की गति कैसी धीमी हो गई है! मेरा दम घुटा जा रहा है! ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि का विनाश हो रहा है—इस विलम्ब का कारण क्या हो सकता है? (सोचती है) यही कि कुमारी असफल वापस आएगी। महाराज उससे नहीं मिलना चाहते। तो क्या वाचाल झूठ नहीं कह रहा था? परमात्मा! मेरा हृदय इसको नहीं सह सकता—नहीं सह सकेगा! (दौड़कर दरीचे की ओर जाती है) क्या? सब तैयारियाँ रोक दी गईं, सड़कों की सजावट बन्द कर दी गई, और सिपाहियों के पहरे हटा लिये गये। तो यह झूठ नहीं था?

(कुमारी का प्रवेश)

छाया—

कहो, बोलो कुमारी! तुम महाराज से मिलीं? वह क्या कर रहे थे? उन्होंने क्या उत्तर दिया? वह कब आएँगे?

कुमारी—

वह इस समय चाणक्य महाराज के पास थे ?

छाया—

क्या कर रहे थे ?

कुमारी—

उनकी आँखों में आँसू थे ।

छाया—

और—

कुमारी—

महाराज चाणक्य उनकी कोई बात नहीं मानते ।

छाया—

(खड़े होकर) तो यह सच है ?

कुमारी—

हाँ, सच है । परन्तु महाराज इससे पागल—

छाया—

नहीं कुमारी ! नहीं, यह भी धोखा होगा । पुरुष धोखा देने में बहुत चतुर होते हैं । इस मनुष्य ने—महाराज ने मुझे ऐसा धोखा दिया कि मुझे उस पर संदेह तक नहीं हुआ । आज प्रभात तक तैयारियाँ हो रही थीं । परन्तु वह इस प्रभात के साथ उस शाम को भी देख रहा था, जो उसके साथ चिमटी हुई थी । मुझे ख़याल भी न था कि मेरे विनाश के बाँधनू बँध रहे होंगे । कुमारी !—

कुमारी—

धीरज धरिए । निस्संदेह आपके हृदय को बड़ा आघात पहुँचा है ।

छाया—

इधर आओ—

(कुमारी छाया के निकट जाती है ।)

छाया—

यह वस्त्र, यह आभूषण मुझे तुमने पहनाये थे ?

कुमारी—

(रुद्ध कंठ से) मुझे क्या मालूम था कि—

छाया—

अब तुम्हीं इन्हें मेरे शरीर से अलग कर दो। (कुमारी चुप रहती है।) तुम नहीं सुनतीं, नहीं मानती ? अच्छा, लो, इन्हें मैं स्वयं उतारे देती हूँ। (आभूषण और ब्याह के वस्त्र उतारकर पृथ्वी पर फेंक देती है।)

कुमारी—

यह आपने क्या किया ?

छाया—

महाराज आएँगे ?

कुमारी—

हाँ। लो, वह आ रहे हैं।

छाया—

तो कह दो, मैं उनसे मिलना नहीं चाहती।

कुमारी—

आप भूल कर रही हैं। महाराज—

छाया—

मिलने की कोई आवश्यकता नहीं।

(वेग से प्रस्थान)

(कुमारी जल्दी से छाया के वस्त्र और आभूषण उठाकर छिपा देती है। महाराज अन्दर आते हैं।)

चंद्रगुप्त—

कुमारी !

कुमारी—

(सिर झुकाकर) महाराज !

चंद्रगुप्त—

छाया कहाँ है ? जाकर कहो, मैं मिलना चाहता हूँ।

(कुमारी सिर झुकाकर जाती है। महाराज बैठ जाते हैं।)

चंद्रगुप्त—

(स्वगत) चंद्रगुप्त ! अन्त में वह समय आ गया; अब तुम क्या करोगे ? वह शब्द सोच लो, जिनसे तुमको इस तपस्विनी बालिका की आशाओं की हत्या करनी है । यह वीरता नहीं, अत्याचार होगा । वह सुनकर क्या कहेगी । हाय ! उसे यह कल्पना तक न थी । प्रातःकाल वह कैसी प्रसन्न थी । मैंने उसे विश्वास दिलाया था । परन्तु अब, अभागे चंद्रगुप्त ! रोती हुई सुंदरता का अंतिम दृश्य देख, और वास्तविक सुख से सदा के लिए वंचित हो जा ।

गुरुदेव ! यह परीक्षा बहुत कठिन है । क्या मैं सफल हो सकूँगा ? (उठकर टहलते हैं । सहसा उनकी दृष्टि वस्त्रों और आभूषणों पर पड़ती है । वह ठिठक जाते हैं, उन्हें बाहर निकालते और चौकी पर रख देते हैं ।) अभागी लड़की ! पता नहीं, तू अपने मन में क्या कहती होगी ? परन्तु यह मेरा दोष नहीं है ।

(छाया और कुमारी खेंचातानी करती अंदर आती हैं ।)

छाया—

बस, तुम मुझे नहीं रोक सकतीं । मैं चाणक्य को कुछ नहीं समझती । मैं महाराज से भेंट करूँगी । (महाराज से) आप आ गये । बताइये, क्या यह सच है ?

चंद्रगुप्त—

देवी ! मुझ पर दया करो, मेरी दशा पर तरस खाओ । मुझ-सा अभागा मनुष्य आज सारे भारतवर्ष में न होगा ।

छाया—

महाराज ! मैं उत्तर चाहती हूँ । क्या यह सच है ?

चंद्रगुप्त—

इस समय मैं प्रेम की बात करने नहीं आया । कर्तव्य ने मेरे होंठों के लिये शुष्क शब्द चुने हैं— नहीं—क्या ? तुम मेरी ओर ऐसी दृष्टि से न देखो । तुमने मुझे कई बार कर्तव्य का मार्ग दिखाया है । इस समय भी वीर-आत्मा बनो । यहाँ हृदय को कोमल नहीं, पत्थर बनाने की आवश्यकता है । यदि तुमने मेरी ओर इसी प्रकार देखा, तो मैं इसे सहन न कर सकूँगा । ओह ! कर्तव्य-पथ किस प्रकार काँटों से भरा पड़ा है ।

छाया—

(सिसकी भरकर) महाराज !

चंद्रगुप्त—

देवी !

छाया—

आप—

चंद्रगुप्त—

देश, देवी ! देश ।

छाया—

(आँसू रोककर) देश ? देश क्या कहता है ?

चन्द्रगुप्त—

यह विवाह अनुचित है ।

छाया—

क्यों ?

चन्द्रगुप्त—

देश को शक्ति की आवश्यकता है ।

छाया—

अर्थात्—

चन्द्रगुप्त—

तुम एक साधारण पहाड़ी राजा की कन्या हो ।

छाया—

तो—

चन्द्रगुप्त—

इस विवाह से मेरे राज्य की शक्ति ज़रा नहीं बढ़ेगी ।

छाया—

(उदासीन भाव से) तो शक्ति बढ़ाने का उपाय क्या सोचा गया है ?

चन्द्रगुप्त—

यह महाराज चाणक्य का प्रस्ताव है, मेरा नहीं ।

छाया—

परन्तु वह प्रस्ताव क्या है ?

चन्द्रगुप्त—

सैल्यूकस की बेटी—

छाया—

सच है । वह सुन्दरी है । उसका रंग गोरा है । वह बड़े पिता की पुत्री है । उसके पास सेना है, ख़ज़ाना है, शक्ति है । और मैं (रोकर) एक साधारण राजा की कन्या हूँ । परन्तु महाराज, आप इस दुःखिनी की बात याद रक्खें । जितना प्रेम आपके लिये इस हृदय में है, उतना संसार-भर के किसी दूसरे हृदय में न होगा ।

चन्द्रगुप्त—

यह सब कुछ मैं भली भाँति समझता हूँ, और जानता हूँ कि तुम्हें छोड़कर मैं जीवन-भर के लिये वास्तविक सुख से वंचित हो जाऊँगा । तुम्हारी ठंडी साँसें मेरे जीवन के एक-एक क्षण को दुःखमय कर देंगी । तुम्हारा प्रेम जो मेरे रोम-रोम के अन्दर समाया हुआ है, मुझे प्रतिक्षण अशान्त बनाये रक्खेगा, और मैं मरणपर्यन्त यही समझूँगा कि मैंने तुम पर और अपने ऊपर अत्याचार किया है । परन्तु फिर भी देश यही चाहता है छाया ! (विवशता के भाव से) मैं कुछ नहीं कर सकता । मैं सम्राट् हूँ ।

छाया—

(मस्तक कँपा करके) क्या आप उस समय सोये हुए थे, जब मेरे आगे नित नई सौगन्धों के साथ नवीन शब्दों में प्रेम प्रकट किया करते थे ? क्या आप उस समय मुझसे नहीं कह सकते थे कि अभागी राजकुमारी ! मैं सम्राट् हूँ, और तू साधारण राजकन्या; मेरा-तेरा विवाह न हो सकेगा । परन्तु तुमने ऐसा न करके मेरा प्रेम से भरा हुआ भोला-भाला हृदय छीन लिया और उसे आज इस राज्य-सत्ता के पत्थर पर पटककर खंड-खंड कर रहे हो ! क्या तुम्हारी यही प्रतिज्ञा थी ? बोलो, उस समय यह देश कहाँ सोया पड़ा था ?

चन्द्रगुप्त—

छाया ! मैं क्या करूँ, देश का मुझ पर अधिकार है ।

छाया—

और तुम्हारा अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं ? क्या राजों के अपने अधिकार, अपने स्वत्व नहीं होते ?

चन्द्रगुप्त—

मैं कुछ नहीं कर सकता।

छाया—

महाराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ? ज़रा विचार कीजिये, मैं आपकी छाया हूँ। (रोने लगती है।)

चन्द्रगुप्त—

अभागे चन्द्रगुप्त ! तूने क्यों अतीत समय में भविष्य की अवस्था को न देखा, और राज्य के उत्तरदायित्व पर विचार न किया ? तू समझता था कि तू भी दूसरे मनुष्यों की तरह स्वतंत्र है, जो चाहे, वह कर सकता है। पर नहीं, तू सम्राट् है, तेरी स्वतन्त्रता तेरे देश की धरोहर है। तेरी इच्छा तेरे देश का सर्वस्व है। तूने असंभव को संभव समझा, और आज उसका यह परिणाम है कि तेरे आँसू तेरे गालों पर बह रहे हैं। तेरा सुख, तेरा संसार, तेरी सबसे बड़ी मनोकामना नष्ट हो रही है। तू सामने खड़ा देख रहा है, और कुछ नहीं कर सकता। (सहसा छाया की ओर देखकर) परन्तु छाया, मुझे शासन करना है।

छाया—

तो आपका यही निश्चय है ?

चन्द्रगुप्त—

हाँ यही।

छाया—

तो राज्य करो, और अपना बल बढ़ाने के विचार में प्रसन्न रहो। मैं तुम्हें दुखी न करूँगी। मैं केवल यही देखना चाहती थी कि तुम्हारे वह होंठ, जिन्होंने मुझसे सहस्रों बार प्रेम की प्रतिज्ञाएँ की हैं, किस प्रकार और किन शब्दों में मुझसे यह कहते हैं कि अब मेरा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध, कोई नाता नहीं। अब मैं फिर न आऊँगी, फिर तुमसे कोई बात-चीत न करूँगी। लो विदा ! यह

शब्द मेरे होंठों से बाहर नहीं निकला। परन्तु क्या करूँ, तुम्हारी राज्य-सत्ता मुझसे यही चाहती है, तो मैं क्या कर सकती हूँ। सूर्य निकलेगा, और अस्त हो जायगा। दिन चढ़ेगा, और ढल जायगा। दिन, मास और वर्ष बीत जायँगे, पर यह सूरत न दिखाई देगी, यह स्वर न सुनाई देगा। परन्तु अच्छा, देखा जायगा। तो अब महाराज की जय हो, जाती हूँ।

(शिवा का तेज़ी से अन्दर आना)

शिवा—

ठहर पुत्री! ठहर। (चन्द्रगुप्त से) चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त—

माताजी!

शिवा—

यह क्या हो रहा है?

चन्द्रगुप्त—

गुरुजी की यही आज्ञा है।

शिवा—

इस प्रेम की पुतली को छोड़ रहे हो? बेटा! ऐसी लड़की संसार-भर में दिया लेकर ढूँढ़ते फिरोगे, तो भी नहीं मिलेगी।

चन्द्रगुप्त—

मुझे इसमें कोई संदेह नहीं माताजी!

शिवा—

तो फिर यह विवाह क्यों रोक दिया गया है?

चन्द्रगुप्त—

गुरुजी की आज्ञा है।

शिवा—

परन्तु मैं तुम्हारी माता हूँ। मेरी आज्ञा है, इससे ब्याह करो। मैं इस प्रेम और सौन्दर्य की मूर्ति, सुशीला, सती-साध्वी देवी के नेत्रों में आँसू नहीं देख सकती। वह तुम्हारे राज्य की जड़ों को हिला देंगे! मैं इसकी ठंडी साँसों को नहीं सह सकती। वह तुम्हारी शक्ति पर बादल बनकर छा जायँगी!

छाया—

नहीं माता ! नहीं, यह नहीं हो सकता, यह नहीं होगा। मैं कहीं हूँ, किसी दशा में हूँ, परन्तु मेरा हृदय इनके लिये कोई शाप नहीं दे सकता। मेरे होंठ इनके लिये सदैव परमात्मा से मंगल-कामना करते रहेंगे। मैं भारतीय नारी हूँ। मैं प्रेम कर चुकी हूँ।

शिवा—

वत्स ! इसके भाव समझो। इसके विचार देखो।

चन्द्रगुप्त—

परन्तु देश मुझसे बलिदान चाहता है।

शिवा—

तो देश का बलिदान करो। इस तपस्विनी कन्या के बलिदान का तुम्हें क्या अधिकार है ?

चन्द्रगुप्त—

माता !

शिवा—

मैं आज्ञा देती हूँ, यह ब्याह करो। तुमने सदैव मेरी आज्ञा का पालन किया है।

चन्द्रगुप्त—

और मैं अब भी तैयार हूँ।

शिवा—

तैयार हो ?

चन्द्रगुप्त—

हाँ तैयार हूँ। परन्तु इतना सोच लो कि यह राज्य का पौधा, जिसे इतने दिनों सींच-सींचकर हमने वृक्ष बनाया है, बहुत जल्द जड़ से उखड़ जायगा।

शिवा—

परन्तु क्यों ?

चन्द्रगुप्त—

यह गुरुजी की भविष्यवाणी है।

शिवा—

और वह सैल्यूकस की बेटी, पराये देश की लड़की, आकर इस उखड़ते हुए वृक्ष को अपने हाथों से थाम लेगी ? ओह ! कितनी भारी भूल है ! इसी विचार पर इस लड़की की इच्छाओं को मसल रहे हो ?

चन्द्रगुप्त—

मगर मैं कुछ नहीं कर सकता।

शिवा—

कुछ नहीं कर सकते ? मेरा कहा भी नहीं मान सकते ? तुम्हारा यह साहस ? मुझे यह स्वप्न में भी ख़याल न था कि तुम मेरे वचन का इतना अनादर कर सकते हो। भोले बालक ! तुम क्या कह रहे हो ?

चन्द्रगुप्त—

माता मैंने निश्चय कर लिया है कि देश की भलाई पर अपने निज के सुखों को निछावर कर दूँगा। गुरुदेव का विचार पत्थर की लकीर है। मैं मरने को तैयार हूँ, परन्तु देश हित के मार्ग में बाधा नहीं दे सकता। हा ! यदि मुझे इससे प्रेम न होता, यदि मेरे स्वप्न इसकी याद में तल्लीन न हो चुके होते ! मैं क्या कह सकता हूँ, आप मेरी माता हैं। मैं अपनी सबसे प्यारी वस्तु देश पर निछावर कर रहा हूँ। इसे छोड़ना मेरा सब से बड़ा बलिदान है। (छाया की ओर उँगली उठाकर) यह मेरे जीवन का सर्वस्व है। परन्तु मैं क्या करूँ, गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने से देश मुझे धिक्कार देगा, मेरा सिर नीचे झुक जायगा।

छाया—

नहीं महाराज ! नहीं। आप सिर ऊँचा करके, छाती फुलाकर खड़े हों। देश आपकी प्रशंसा के गीत गाए। शक्ति आपके सामने हाथ बाँधे। ऐश्वर्य आपके सिर पर चँवर हिलाये। आप इन बातों की ओर देखें, इनकी परवा करें। परन्तु मेरा—(लम्बी साँस भरकर) मेरा ख़याल न करें। मैं विदा होती हूँ। मैं आपके मार्ग का कंटक नहीं बनना चाहती। परन्तु आपका प्रेम मेरे हृदय से नहीं निकलेगा। उसे मेरे हृदय में स्मारक के रूप में रहने दें। आपने मुझसे मेरा सुख, धीरज, शान्ति, सब कुछ छीन लिया है; परन्तु यह प्रेम,

यह अंतिम सुख-स्मृति संसार में मैं अपने हृदय से पृथक् नहीं कर सकूँगी। जब तक जीती हूँ—पता नहीं कब तक; एक दिन, एक सप्ताह या एक मास—उस समय तक यह धरोहर मेरे पास रहने दें—क्यों आप रो रहे हैं? धीरज धरें। आपने मुझसे साहस माँगा था, मैं आपको साहस दे रही हूँ। आपके इन आँसुओं ने आपका हृदय मेरे आगे खोल दिया है। अब मैं सब कुछ सहन करूँगी। आप मुझसे प्रेम करते हैं, बस, मेरे लिए यही सब कुछ है। कुमारी! माताजी! महाराज! मैं जा रही हूँ! महाराज की जय हो।

(वेग से प्रस्थान)

शिवा—

वह चली गई। यह नहीं हो सकता। चन्द्रगुप्त! चन्द्रगुप्त वत्स!!

चन्द्रगुप्त—

(रोते हुए) माता!

शिवा—

देखते हो, छाया चली गई। बोलो मैं उसे बुला लूँ।

चंद्रगुप्त—

क्या?

शिवा—

समय हाथ से जा रहा है। शीघ्र बोलो, मैं उसे बुला लूँ।

चंद्रगुप्त—

भाग्य से कोई नहीं लड़ सकता, इसका मुझे ज्ञान न था।

शिवा—

तो तुम क्या कहते हो? जल्दी करो, एक-एक क्षण में बात बिगड़ रही है। मुझे भय है कि छाया कहीं—

चंद्रगुप्त—

अपने प्राणों पर खेल जायगी? नहीं यह नहीं हो सकता। जाओ, उसे वापस बुला लाओ। मैं अपना निश्चय बदलता हूँ।

शिवा—

पुत्र! तुमने मुझे दुबारा जीवित किया, तुम्हें दूध पिलाना व्यर्थ नहीं गया।

(वेग से प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त—

एक ही दिन में इतनी घटनाएँ हो जायँगी, यह कौन जानता था। इनके सामने मनुष्य की उतनी भी स्थिति नहीं, जितनी नदी के वेग-युक्त प्रवाह के सामने एक तृण की होती है। प्यारी छाया! मैं राज-पाट छोड़ दूँगा और भिखारी बनकर तुम्हारे साथ सुखी रहूँगा। मुझे इस राज्य की कोई आवश्यकता नहीं। मेरा राज्य—मेरी सत्ता तू है।

(वाचाल का प्रवेश)

वाचाल—

महाराज की जय हो।

चन्द्रगुप्त—

तो अब तुम नहीं जाओगे?

वाचाल—

मैं अन्तिम बार दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

चन्द्रगुप्त—

नहीं भाई वाचाल! नहीं, मैं यह नहीं सह सकूँगा। मुझे इस संसार में केवल दो वस्तुओं से प्रेम है, तुमसे और छाया से। आज तुम दोनों मुझसे अलग हो रहे थे। छाया को मैं छोड़ रहा था, तुम मुझे छोड़ रहे थे। परन्तु अब यह कभी न हो सकेगा। तुम में एक मेरे दिन की धूप है, दूसरा रात की चाँदनी। मैं इन दोनों के बिना नहीं रह सकूँगा। मैंने छाया को छोड़ने का विचार छोड़ दिया है, तुम मुझे छोड़ने का विचार छोड़ दो।

वाचाल—

हाय! प्रारब्ध ने मुझे फिर धोखा दिया। आशा की छोटी सी किरण दिखाई दी थी, वह फिर अथाह अन्धकार में विलीन हो गई।

चन्द्रगुप्त—

यह तुम क्या कह रहे हो?

वाचाल—

महाराज!

चन्द्रगुप्त—

कहो भाई वाचाल ! कहो, तुम क्या कहना चाहते हो ?

वाचाल—

जो आप सुनने को तैयार न होंगे।

चन्द्रगुप्त—

आज मैं सब कुछ सुन लूँगा। आज का दिन ऐसी ही घटनाओं के लिए है, जिनकी कोई आशा न थी। तुम कहो, क्या कहना चाहते हो, जिसकी भूमिका इतनी भयानक है।

वाचाल—

महाराज ! मुझे छाया से प्रेम था।

चन्द्रगुप्त—

(चौंककर) प्रेम था, और अब ?

वाचाल—

अब भी उसी प्रकार है। आपने मेरा जीवन नष्ट कर दिया है। मैं इस दशा में आपके पास नहीं रह सकता।

चन्द्रगुप्त—

वाचाल ! तुम्हारा यह साहस ! तुमको मेरी सत्ता का, मेरी तलवार का, मेरे राज्य का भय न था ! जो यह शब्द इस प्रकार निर्लज्जता से मेरे सामने कह दिये ? यह मेरा, मेरे प्रताप का, मेरी शक्ति का अपमान है।

वाचाल—

(उपेक्षा से) यदि यह अपमान है, तो मैं इसका दोषी हूँ।

चन्द्रगुप्त—

(क्रोध से) दुष्ट ! निर्लज्ज !

वाचाल—

(तलवार पर हाथ रखकर) बस, सावधान ! मैं यह अपमान के शब्द नहीं सुन सकता।

चन्द्रगुप्त—

तलवार निकालो। हम लड़ेंगे।

वाचाल—

महाराज! आप मेरे सम्राट् है। मैं आपके सामने तलवार नहीं खींच सकता।

चन्द्रगुप्त—

हाय! हाय!

वाचाल—

(तलवार निकाल कर) बहुत अच्छा, यह अग्नि आपके पत्थर पर पत्थर मारने से निकली है। मैं इसका उत्तरदाता नहीं हो सकता। आ जाइये, मैं तैयार हूं।

(दोनों लड़ना चाहते हैं। बाहर से रोने का शब्द सुनाई देता है।)

चन्द्रगुप्त—

कौन! यह मातामों की आवाज़ है। इसका क्या मतलब? कहीं ओह!

(एकाएक चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—

बस, थकेरे हुए उन्मत्त शेरो! तलवारें झुका लो। छाया मर रही है।

चन्द्रगुप्त—

(तलवार फेंक कर) क्या छाया;—इसके आगे आपने क्या कहा?

चाणक्य—

बेचारी लड़की प्रेम की ठोकर को न सह सकी, और उसके बिना एक क्षण भी जीवित न रही। उसने विष खा लिया।

वाचाल—

(चन्द्रगुप्त से) और इसका उत्तरदायित्व आप पर है महाराज!

चन्द्रगुप्त—

नहीं इसमें मेरा कोई दोष नहीं। यह सब गुरुदेव—इस ब्राह्मण की करतूत है। छाया! छाया!!

(सेवा से आना चाहते हैं। छाया गिरती-पड़ती अन्दर आती है। राजमाता सहारा दिये हुए हैं।)

छाया—

महाराज की जय हो! प्रणाम करती हूं।

चन्द्रगुप्त—

प्यारी छाया ! यह तुमने क्या कर डाला ! क्या तुम्हें मेरा ख़याल न था ? ओह ! मैंने राज-पाट, सिंहासन, सब कुछ त्याग देने का निश्चय कर लिया था। परन्तु अब—

छाया—

आपने अपना कर्तव्य पूरा किया। मैंने अपना कर्तव्य समझा।

चन्द्रगुप्त—

वाचाल ! दौड़ो राजवैद्य को जल्दी बुलाओ। यह बचेगी, मैं इसे नहीं मरने दूँगा।

छाया—

(तड़पते हुए) नहीं, अब वैद्य कुछ नहीं कर सकेगा। मैं चली, मैं फुँकी महाराज !

चन्द्रगुप्त—

(झुककर) छाया ! छाया !!

शिवा—

किसे बुला रहे हो ? वह अब इस संसार में नहीं रही। यह केवल पिंजरा है, पंछी उड़ गया।

चन्द्रगुप्त—

क्या ? मर गई; एक तारा आकाश से टूट पड़ा, एक संगीत-लहरी वायु-मंडल में विलीन हो गई, एक फूल मिट्टी में मिल गया, एक बुद्बुदा जल में तन्मय हो गया, और इसका उत्तरदाता मैं हूं ! इसको मारने वाला, इस सौन्दर्य की हत्या करने वाला, इस लावण्य को नष्ट करने वाला मैं हूं। छाया ! छाया !! मेरी प्यारी !!!

(बेहोश होकर गिर जाते हैं।)

मुद्रक—पी० के० शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, काशी।